: प्रकाशक :
रावी प्रिन्टींग इन्ड्रस्ट्रीज
१३, गांगुली लेन
कलकत्ता - ७०० ००७

संस्करण : 1999
मूल्य : सप्रेम भेंट
आवरण : The Designer's, P-17, Kalakar Street, Calcutta-7
मुद्रक : The Designer's, P-17, Kalakar Street, Calcutta-7

GEET GEETA : DR. SHANKAR LAL SWAMI
(M.B B.S)

Published By : The Desiger's, P-17, Kalalar St. Calcutta-7



डॉ शंकर लाल स्वामी

(एम० बी० बी० एस०)

जन्म : १९४१

शिक्षा : *एम० बी० बी० एस*

कार्य : ● राजकीय सेवारत चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग, राजस्थान, जयपुर के अंतर्गत !

" : ● *हिन्दी एवं राजस्थानी मे गीत, गजल एवं कविता लेखन!*

" : ● विभिन्न पत्र पत्रिकाओ मे शताधिक रचनाएँ प्रकाशित!

" : ● आकाशवाणी से विगत अनेक वर्षों से काव्य रचनाओ का प्रसारण!

स्थाई पता : ● नत्थूसर-गेट के बाहर, संत गोलूजी मार्ग
बीकानेर - ३३४ ००४

: अनुक्रम :

गीत–गीता

पहला अध्याय

दो० समर हेतु निश्चय करी, धर्मक्षेत्र कुरूक्षेत्र ।
ममसुत पाण्डव के सुवन, का कीन्हें रणक्षेत्र ॥१॥
संजय सब वृतान्त कहु, दिव्यदृष्टि करि ध्यान ।
सत्य, धर्म नीति निपुण, तुम सब विधि विद्वान ॥२॥

चौ० अस कहि नयन नीर भरि आये, नृप धृतराष्ट्र बहुत अकुलाये ।
नीति अनीति कालगति न्यारी, होनहार नहिं जावत टारी ।
कह संजय सुनु भूपति बाता, आज लगत मोहे वाम विधाता ।
पाण्डव सेन व्यूह जब देखा, दुर्योधन गुरु सम्मुख पेखा ।
जाइ द्रोण सन वचन उचारे, धृष्टद्युम्न तव शिष्य पियारे ।
पाण्डव सेन व्यूह तेहि कीन्हे, शूरवीर बांके रण भीने ।
अर्जुन, भीम, समान घनेरे, द्रुपद, विराट, सात्यकी जेरे ।
चेकितान, पुरुजित . बलवाना, काशिराज सम योद्धा नाना ॥१॥

दो० कुन्तिभोज, धृष्टकेतु अरु युद्धामन्यु बलवान ।
पांचाली के पांच सुत, महारथी सब जान ॥३॥
वीर उत्तमौजा खड़ा, चमू मध्य गुरुदेव ।
कहे कौन अभिमन्यु को, महारथी से हेव ॥४॥

चौ० निज–बल नायक कहहुँ सुजाना, द्विजवर सैन्य विलोकहुं आना ।
आप, भीष्म, कृप, कर्ण समेता, विकर्ण, भूरिश्रवा सम केता ।
युद्ध . विशारद वीर अनेका, अश्वत्थामा तेहि मह एका ।
अस्त्रशास्त्र, सजि शूर जुड़ाये, मम हित प्राण मोह तजि आये ।
भीष्म हमार सैन्य रखवारे, महाकाल सम जूझन हारे ।

है अति सरल पाण्डुदल छेदन, पर अति कठिन भीष्म दल भेदन ।
कहहुँ तात मम मति अनुकूला रक्षहूँ भीष्म करहु नहिं भूला ।
पाण्डव सेन भीम रखवारे, सहज विजय अस होई हमारे ॥२॥

दो० दुर्योधन अरु द्रोण की भीष्म सुनी यह बात ।
शंखनाद करि गर्जेऊ, हुआ ढोल आघात ॥५॥
दुर्योधन के हृदय में, हर्ष हुआ यह जान ।
भीष्म पितामह ने किया, युद्ध हेतु आह्वान ॥६॥

चौ० तुमुल शंखध्वनि हुई बहोरी, गोमुख पणव भेरिया बोली ।
उत्तम रथ बैठे यदुराई, श्वेत बाजि तह रहे जुड़ाई ।
संग सखा अर्जुन बैठाये, पृथक–पृथक दोउ शंख बजाए ।
पाँचजन्य केशव कर लीन्हें, देवदत्त अर्जुन मुख दीन्हे ।
पौण्ड्र शंख जब भीम बजाये, शूरवीर ध्वनि सुनि अकुलाये ।
शंख अनन्त–विजय कर लीन्हे, राजा धर्मराज रणभीने ।
घोष, सुघोष नकुल मुख फूंके, मणि पुष्पक सहदेव अचूके ।
श्रेष्ठ धनुर्धर काशीराजा, ता मुख श्रेष्ठ शंख पुनि बाजा ॥३॥

दो० धृष्टद्युम्न अरु सात्यकी, निज निज शंख बजाई ।
द्रुपद, शिखंडी ने लिए निज निज शंख उठाई ॥७॥
पुनि विराट, अभिमन्यु ने, घोर शंख दिये फूंक ।
द्रुपद सुता के सुतन ने, फूंके शंख अचूक ॥८॥

चौ० तुमुल शंख ध्वनि नभ क्षिति होई, हृदय विदारत कुरु–सुत सोई।
अस्त्र, शास्त्र सब सैन्य संभारे, कपि ध्वज अर्जुन मनहि विचारे ।
धृतराष्ट्र सुत देखि रिसाये, अरूण नयन, भृकुटि तनि आये ।

कर गहि धनुष उठे रथ मांही, हरि सन बचन कहे अकुलाई ।
दोउ दल सैन्य मध्य रथ करहू, देखहुं भूप समर संचरहू ।
देखन चहहुं युद्ध व्यापारा, कवन कवन महिपति पगु धारा ।
बुद्धिहीन राजा दुर्योधन, चाहत शुभ केते राजागन ।
केते युद्ध योग्य भूपाला, चाहहुँ देखन आज कृपाला ॥४॥

दो० संजय कहे भूपति सुनहु, सुनि अर्जुन की बात ।
दोउ सेना के बीच में, रथ रोप्यो यदुनाथ ॥९॥
भीष्म, द्रोण, भूपति सबहिं, रथ ता सम्मुख कीन्ह ।
कह केशव हे पार्थ अब, कुरुदल, अखिल चीन्ह ॥१०॥

चौ० पृथापुत्र अर्जुन रणबांका, दोउ दल सैन्य विलोकन लागा ।
तंहं देखे गुरु अरु गुरुभाई, देखि पितामह मति अकुलाई ।
पुनि देखे सुत, पौत्र, बंधुवर, ससुर, मित्र, चाचा अरु प्रियवर ।
ताहि देखि मति अति अकुलाई, हृदय मांहि करूणा भरि आई ।
देखि बंधुजन हुआ दुखारी, अर्जुन कहे सुनो बनवारी ।
इहां सबहि मम स्वजन जुड़ाए, समर लागि सबही चढ़ि आए ।
ताहि विलोकि मोर तन कांपत, अंग शिथिल हुइ जात नन्दसुत ।
होवहि रोम हर्ष मुख सूखै, जरहि त्वचा मोरा मन दूखै ॥५॥

दो० खड़ा नहीं रह सकहुं मैं, गिरहि चाप गाण्डीव ।
लक्षण सब विपरीत है, का कारण राजीव ॥११॥
अपने कुल को मारकर, नहीं मोर कल्याण ।
मन थिर नहिं, तन क्यों जरै, तुमही कहो भगवान ॥१२॥

चौ० ना चाहों मैं विजय मुरारी, का भये राज पाइ बनवारी ।
सुख नही भोग राज नही चाहूँ, केहि कारण परिजन दुखियाऊँ ।
जेहि हित लागि करहूँ रण आजू, ते सब समर सजाए साजू ।
धन अरु प्राण मोह तजि आये राज, भोग, सुख सब विसराये ।
गुरुजन, ज्येष्ठ, पितामह सवहीं, पुत्र, पौत्र से लरौ न कवहीं ।
मामा ससुर खड़े रण मांही, चाचा परिजन सबहीं जुड़ाई ।
एते सवहीं हनन नहि करहूँ, निज प्राणन तेहि हित परिहर हूँ ।
तेहि हित तीन लोक तजि देहूँ, ए मिलि मोर, प्राण किन लेहूँ ।।६।।

दो० नाहि कुटुम्बनि को हतहुं, महि हित हे गोपाल ।
तेहि हित राज्य त्रिलोक को, त्यागहुँ मै तत्काल ।।१३।।
धृतराष्ट्रन् के सुतन को, बध किये हम का प्रीति ।
आततायीं को बधे, पाप बढ़े कह नीति ।।१४।।

चौ० धृतराष्ट्रहि सुत स्वजन हमारे, तेहि कर बध क्यो करहूं मुरारे ।
मारि ताहि हम का सुख लेहो, नाहि नाहि यह युद्ध न चहहो ।
आज लोभ वश है दुर्योधन, माया के वश हुआ ताहि मन ।
कुल कर नाश दोष नहि जाने, मित्र द्रोह प्रभु पाप बखाने ।
हे हरि हम तो यह सब जानत, केहि कारण हम नाहिं विचारत ।।
कुल नाशै कुल धर्म नशावत, धर्म नाश भये पाप सतावत ।
पाप बढ़े कुलनारि प्रदूषै, वर्णसंकरी जन्मत उससे ।
वर्ण संकरौ जेहि कुल आवे, कुलघातिहि, कुल नरक ले जावे ।।७।।

दो० पिण्डोदक को करहि हरि, जेहि कुल संकर होय ।
पितर पतित होवहि प्रभू, तेहि न बचावहि कोय ।।१५।।
जाति, धर्म, कुलधर्म जो, शाश्वत है यदुराइ ।
मो कुल-घातिन पाप सों, संकर देहि नसाइ ।।१६।।

चौ० कुलघाती नर नरक प्रवासै, ग्रन्थ, श्रुती एहि भातिहि भाषै ।
यह अति दुःख जनक यदुराई, बुद्धिमान हुई हम बौराई ।
राज हेतु सुख हेतु लुभाए, स्वजन हनन सेना सजि आए ।
शस्त्र–त्यागि हौं. युद्ध न करिहों, घृतराष्ट्रहि सुत सो न लरिहो ।
शस्त्र साजि यदि वे चढ़ि आवै, मो कर प्राण हरण करि जावै ।
होवहि क्षेम तरम् मम हेतू, युद्ध न करहूँ सुनो यदुकेतू ।
अर्जुन शोक कियो बड़े भारे, बाण धनुष कर से तजि डारे ।
संजय कह सुनु भूपति श्रेष्ठा, अर्जुन रथ पीछे जा बैठा ॥८॥

पहला अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय

दो० दशा पार्थ की लखि करुण, और भरे दृग नीर ।
शोकयुक्त कुन्ती सुवन, मधुसूदन गम्भीर ॥१॥
पुनि संजय आगे कहे, कुरुपति से वृतान्त ।
हरि अर्जुन से यों कह्यो, करहु तात मन शान्त ॥२॥

चौ० विषम काल यह युद्ध स्थल है, कोहि कारण अज्ञान प्रबल है ।
श्रेष्ठ जना नहि सोचहि ऐसे, तोरे मन विषाद भयो कैसे ।
एहि आचरण स्वर्ग नहि पावै, एहि विचार तव कीर्ति नसावै ।
केहि कारण कापुरुष कहावै, एहि मति तोरो अहित करावै ।
छाड़हु क्षुद्र हृदय कदराई, उठहु परंतप धैर्य धराई ।
अर्जुन कहे सुनो मधुसूदन, भीष्म, द्रोण है मोरे गुरुजन ।
ता सन्मुख कैसे लरि सकिहो, पूजनीय नित मानहि रखिहो ।
गुरुजन बध नहिं उचित मुरारी, नहिं बधहूं ताहि बनहूं भिखारी ॥१॥

दो० अर्थ भोग अरु सम्पति, रक्त पात करि पाइ ।
हे केशव क्या उचित है, गुरुजन संग लराई ॥३॥
का करनो है उचित प्रभु, हम नहिं जानत आज ।
जीत हार किस पक्ष में, को जानै यदुराज ॥४॥

चौ० धृतराष्ट्रहि सुत बध ना चाहो, ताहि मारि हम नाहि जिवावों ।
मन थिर नहिं कायरता व्यापी, चित्त मोहवश बड़ सन्तापी ।
अर्जुन कह प्रभु बूझहु तो सो, श्रेय मार्ग बतलावो मो सो ।

केहि विधि होय मोर कल्याणा, सोइ विधि कहो आज भगवाना ।
मै तव शिष्य देवकीनन्दन, तोरे शरण पड़ा मधुसूदन ।
भूपति होइ सम्पति पाई, इन्द्रासन भी ना सुख दायी ।
शक्रासन क्षिति, शोक न हरही, मोरे मन विषाद अति भरहीं ।
निद्राजयी परंतप वाचै, युद्ध न करौ मोर मन सांचै ॥२॥

दो० शान्त होइ कौन्तेय जब, बैठ गया रथ माहि ।
सुनु भूपति संजय कहे, केशव मन मुस्काहि ॥५॥
दोऊ सेना के मध्य में, शोकयुक्त तेहि जान ।
हृषिकेश हँसकर कहे, निज पौरुष पहचान ॥६॥

चौ० क्षत्रिय होय करै पंडिताई, केहि कारण तव मति बौराई ।
जेहि हित शोक करै तूं भाई, तेहि हित शोक न भल मति याही ।
जीवित हो कि अजीवित कोई, पंडित शोक करे नहिं तो ही ।
तुम अरु हौं अरु ये भूपाला, विद्यमान रहे सर्वे काला ।
थे हम सब अरु होवहिं आगे, जीव नित्य है क्यो संतापै ।
शैशव, यौवन और बुढ़ापा, देह धरै तेहि ये सब व्यापा ।
एहि विधि अन्य देह पुनि धारै, जीवात्मा है नित्य पियारे ।
धीर पुरूष नहि मोह सतावै, तत्व ज्ञान एहि भांति बतावै ॥३॥

दो० शीत, गीष्म, सुख–दुःख सबहि, भारत इन्द्रिय भोग ।
आवन जावन सबहिं ये, अनित विषय संयोग ॥७॥
"शंकर" ए सब सहन कर, पृथापुत्र धर धीर ।
संजय कह नरपति सुनहु, गिरियर भये गम्भीर ॥८॥

चौ० सुख, दुःख जो समान करि माने, इन्द्रिय विषय व्यथित नहि जाने ।
हे नर श्रेष्ठ ! धीर नर सो ही, पात अमर पद निश्चय वो ही ।
सत्य अभाव कबहु नहिं जानत, असत भाव कबहू नहिं मानत ।
तत्वज्ञान एहि भांति बखानै, "शंकर" श्रेय मार्ग एहि जानै ।
आतमतत्व सत्य अविनाशी, दृश्य मांहि वह एक प्रकाशी ।
कौन सके करि ताहि विनाशा, धैर्य धारि, तजि देहु निराशा ।
अन्तवन्त यह देह कहावै, जीवात्मा अक्षत श्रुति गावै ।
उठहु परंतप युद्ध करावो, तजो शोक मन धीर धरावो ।।४।।

दो० एक कहे यह मारता, एक कहे मरिजात ।
"शंकर" दोनों मूढ़ मति, ज्ञानीजन श्रुति गात ।।९।।
ना यह मारै कोऊन को, ना कोऊ मारे याहि ।
आतमतत्व अनाशिनो, सुधिजन की मति माहि ।।१०।।

चौ० ना जन्मे, ना मृत्यु पावे, ना होई करि, पुनि पुनि होइ जावे ।
यह अज नित्य, सनातन, प्राची, देह हते पर जीव प्रकाशी ।
हे कुन्ती सुत ! जो यह जानै, आतमतत्व सभी मे मानै ।
वह नहि हते, ना काहि हतावे, अज्ञानी मति भ्रम होइ जावै ।
जेहि विधि जीर्ण वस्त्र तजि देवे, नूतन वस्त्र धारि नर लेवे ।
तेहि विधि जीव जीर्ण तन त्यागे, नूतन देह धरे पुनि आगे ।
जीवात्मा को शस्त्र न काटै, पावक ताहि कबहु नहि लाटै ।
जल ताको नहि सकै गलाई, मारुत ताहि न सकै सुखाई ।।५।।

दो० यह अछेद्य नहि जरि सकै, यह अशोष्य अक्लेद्य ।
नित्य, सनातन, सर्वगत, स्थिर, अचल, अनभेद्य ।।११।।
आत्मतत्व अव्यक्त है, आत्म तत्व अचिन्त्य ।
यह विकार से ग्रसित नहिं, पुनि पुनि भाखै सन्त ।।१२।।

चौ० एहि विधि जानि शोक नहि कीजे, धनुष बाण कर मे गहि लीजे।
जीव मरे नित'तूं यह माने, और नित्य जन्मे यह जाने ।
तदपि शोक कोहि कारण कीजै, यह विचार मन धीरज दीजे ।
जो जन्मे वह मृत्यु पावे, मरण पाइ पुनि जन्म दृढ़ावे ।
अपरिहार्य यह क्रम सुनु ताता, शोच करे तू अब केहि बाता ।
जन्म पूर्व वृतान्त न जाने, मृत्यु बाद रहे अनजाने ।
दोऊ के मध्य हमारो जीवन, केहि कारण ताको परिवेदन ।
छाड़ि शोक मन को थिर कीजै, उभय भांति विचार कर लीजै ॥६॥

दो० विस्मय इव देखहिं कोउ, विस्मय इव कहि कोउ ।
विस्मय इव सुनि लेत कोउ, नहिं जानत सुनि कोउ ॥१३॥
आत्म–तत्व सब देह में, सदा अवध्य सुजान ।
सर्व भूत हित शोक तज, मोरे वचन प्रमाण ॥१४॥

चौ० आगे कहुं सुनु दूसरि बाता, क्षत्रिय धर्म तोहि समुझाता ।
क्षत्रिय होय श्रेय यह भाई, धर्म युक्त जो करै लड़ाई ।
अपनो धर्म देख सुख कीजै, भ्रम तजि आज लराई कीजे ।
पुनि यह युद्ध स्वतः मिलि गयऊ, स्वर्ग द्वार तोरे खुलि गयऊ ।
क्षत्रिय होय भाग्य जेहि नीको, पार्थ मिलहिं अस समर उन्हीको ।
धर्म–युक्त जो युद्ध न चाहे, अपनो धर्म व कीर्ति नसावे ।
धर्म, कीर्ति जा की चलि जावे, पुण्य छाड़ि वह पाप कमावे ।
तव अपकीर्ति कथा सब कहही, सुनि सुनि लोग तोहि धिक्करही॥७॥

दो० मृत्यु से भी अधिक दुःख, होवहिं कीर्ति नसाइ ।
सज्जन पुरुष सुशील जन, जीवित ही मरि जाइ ॥१५॥
तोरे बल से जो व्यथित, का सोचहिं मन मांहि ।
सूर समर देखहिं डर्‌यो, कुन्तीसुत रण पाहि ॥१६॥

चौ० वैरी जन निन्दहि बहु भांती, रुष्ट होइ तोरे सब नाती ।
निन्दहिं भांति भांति कर तोहि, पुनि पुनि सुनि दारूण दुख होई ।
पावहि स्वर्ग जो प्राण नसाई, भोगहिं भूमि विजय रण पाई ।
सब विधि युद्ध श्रेयकर भाई, उठहु परंतप युद्ध दृढ़ाई ।
सुख दुख दोउ समान करि मानो, लाभ अलाभ भेद नहिं जानो ।
हार जीत समदृष्टि धरीजे, पाप नाहि तह युद्ध करीजे ।
जो कछु कहा ज्ञान यह भाई, बुद्धि योग अब कहूँ बुझाई ।
बुद्धि युक्त हुइ कर्म करीजे, कर्म बंध से मुक्ति लीजे ॥८॥

दो० आरम्भहि दृढ़ मति करहु, करहु कर्म भय त्यागि ।
धर्म आपनो अल्प चरि, जावहि बड़ भय भागि ॥१७॥
तनिक धर्म धारण करै, प्रारम्भै निज कर्म ।
फल जो होवे दोष नहि, यही कर्म को मर्म ॥१८॥

चौ० बुद्धि योग अपनावे जो ही, निश्चय बुद्धि एक तंह होई ।
जा की बुद्धि होइ थिर नांही, भेद अनन्त होइ मन मांही ।
अर्जुन नाहि चित्त थिर जाको, कर्म सकाम रहे मत ताको ।
भोग स्वर्ग से प्रिय नहि कोई, ए ही मत या को प्रिय होई ।
कर्म विशेष करही बहु भांती, भोगेश्वर्य मिलहिं जेहि भांती ।
भोग और ऐश्वर्य प्रधाना, अपहृत चित्त, मूढ़ मति नाना ।
ऐसे पुरुष सदा दुख पावे, निश्चय बुद्धि कबहु नहि आवे ।
ए प्राणी सब फल आसक्त, ऐसी वेद वाणि के भक्त ॥९॥

दो० यह संसार है त्रिगुणमय, सत, रज, तम तेहि जान ।
वेद बखानै एहि विधि, आगे सुनहु भवान ॥१९॥
रहित त्रिगुण निर्द्वन्द्व होइ, सत्व स्थित करि चित्त ।
योग क्षेम से विगत होइ, आत्मवान होइ मित्त ॥२०॥

चौ० जल परिपूर्ण जलाशय पाई, पोखर ताहि प्रयोजन नांही ।
ब्रह्म तत्व जो ब्राह्मण जाने, वेद ताहि नहिं रहे लुभाने ।
कर्म मांहि अधिकार पुरुष के, फल मे कोउ अधिकार न उसके ।
कर्मफलहि नहि हेतु कहावो, अकर्म संग कबहु नहि जावो ।
सिद्धियोग में मन थिर कीजै, छाड़ि आसक्ति धनन्जय दीजै ।
बुद्धियोग नित श्रेष्ठ कहावै, कर्म सकाम हेय बतलावै ।
फल के लोभ कृपण नर धावे, बुद्धि शरण बुद्ध जन जावै ॥१०॥

दो० बुद्धियुक्त जो पुरुष है, अर्जुन इह जग मांहि ।
पाप पुण्य दोउ त्याग करि, इह जग मुक्ति पाइ ॥२१॥
अतः योग में स्थित हुइ, भाव समत्व रखाइ ।
यही कर्म की कुशलता, पार्थ बुद्धिजन गाइ ॥२२॥

चौ० ज्ञानी जन जेते जग मांही, बुद्धि युक्त हुइ कर्म कराही ।
कर्म फलहिं त्यागे सुख पावे, जन्मबन्ध से मुक्ति दिलावे ।
बंधन त्यागि परम पद पावे, पार्थ ताहि नहिं मोह सतावे ।
मोहकीच तव मति तरि लेही, जगत स्वर्ग सब हेय लगेही ।
सुना, सुनहि पुनि जो कछु आगे, सबही तोहि असत करि लागे ।
होइ वैराग्य ताहि दिन तोको, धारहु दृढ़मति द्वन्द्वहि रोको ।
भांति भांति के सुनि सुनि वचना, स्वर्ग नर्क की सुनि सुनि रचना।
विचलित बुद्धि तोर हुइ गयऊ, अचल स्थिर करि योगी भयऊ॥११॥

दो० कह अर्जुन केशव कहहु, स्थित प्रज्ञ को होइ ।
केहि विधि होइ समाधि में, द्वन्द्व त्यागि करि कोइ ॥२३॥
स्थिर बुद्धि क्या बोलता, केहि विधि बैठहि सोइ ।
चलहिं केहि विधि हे हरी, समझावहुँ अब मोहि ॥२४॥

चौ० कह केशव सुन पार्थ सुजाना, समझावहुं अब तोहि विधि नाना ।
सर्वहि कामना जब तजि देवे, तत्व–ज्ञान करि तत्वहि सेवे ।
निज मन मांहि तुष्ट होइ रहही, स्थित प्रज्ञ योगी तब कहही ।
दुःख पाइ जेहि मन नहि कम्पै, सुख पाई मन रहे अकम्पै ।
राग, द्वेष, भय सब चलि गयऊ, मुनि सोइ धीर स्थिर मति भयऊ।
ना अभिनन्दहिं शुभ को पाई, ना द्वेषहि जो अशुभहिं आई ।
रहे सदा आसक्ति हीना, स्थिर बुद्धि वह पुरूष प्रवीना ।
अंग समेटि कूर्म जस रहही, ज्ञानीजन एहि विधि संचरहि ॥१२॥

दो० इन्द्रिय विषय समस्त जो, इन्द्रियविगत करेहि ।
ता की प्रज्ञा स्थिर है, ज्ञानी 'शंकर' ये हि ॥२५॥
इन्द्रिय-विषय विमोचहिं, पुनि आसक्ति त्याग ।
ते ही जाने परम पद, या को ही बड़ भाग ॥२६॥

चौ० जो केवल इन्द्रिय सुख त्यागे, नांहि जाहि आसक्ती भागे ।
ताहि परम प्रज्ञा नहि आवे, बिनु प्रज्ञा, नहि परम लखावे ।
आसक्ती जा की नहि नासै, इन्द्रिय विषय ताहि सत्रासै ।
डोलहिं सुधिजन की मति अर्जुन, मंथहि चित्त हरहि ताको मन ।
सब इन्द्रिय वश मे कर लेवे, मोरो कह्यो परम करि सेवे ।
जा की इन्द्रिय वश में होई, स्थिर बुद्धि ज्ञानी जन वो ही ।
कृष्ण कहे सुनु अर्जुन आगे, दुःख अति होइ विषय नहि त्यागे ।
संग विषय का, मोह बढ़ावे, मोह, बुद्धि के नाश करावै ॥१३॥

दो० चिन्तन विषयन को किये, संग विषय मति होय ।
संगहि उपजै कामना, ता सो बच्यौ न कोय ॥२७॥
विघ्न कामना मे पड़े, क्रोध तहां उठि आत ।
क्रोध भाव सम्माह वश, भृष्ट स्मृति हुई जात ॥२८॥

चौ० स्मृति भमित जाकी हुई आवे, बुद्धिनाश पुनि "शंकर" गावे ।
बुद्धिनाश जा नर की होई, ता सम पतित न इह जग कोई ।
राग–द्वेष जे नर तज दीने, इन्द्रिय–विषय वसहि कर लीन्हे ।
अन्तःकरण जाहि वश होई, अर्जुन ता सम सुखी न कोई ।
इन्द्रिय विषय चरहिं बिनु रागा, ए नर इह जग मे बड भागा ।
मन मैं रहे सदा परसन्ना, दुःख नाश हुई अन्तःकरना ।
चित्त प्रसन्न होइ वह रहहि, बुद्धि स्थिर ताकी सब कहहि ।
बुद्धि युक्त जब कर्म प्रकाशै, पाप पुण्य ता के सब नाशै ॥१४॥

दो० बुद्धि युक्त जो नर नहीं, नाँहि भावना कोइ ।
हीन भावना मनुज को, कबहु शान्ति नहि होइ ॥२९॥
युक्त भावना के बिना, कहां शान्ति सुनु पार्थ ।
औ अशान्त को सुख कहां, जीवन यही यथार्थ ॥३०॥

चौ० कृष्ण कहे सुनु आगे अर्जुन, है अति प्रबल पराक्रम ये मन ।
विषयारत जब इन्द्रिय होई, मन हठकरि ता संगी होई ।
इन्द्रिय होय प्रबल ता संगा, भ्रष्ट करहि करि प्रज्ञा भंगा ।
जेहि विधि वायु नाव हर लेही, इन्द्रिय तेहि विधि मति हर लेही।
निग्रह जेहि इन्द्रिय कर लीन्हे, महाबाहो सोइ थिर मति चीन्हे ।

सर्वभूत जेहि रात्री सोई, संयमी जागे थिर होई।
जब जब अन्य जना नहिं सोवे, स्थित प्रज्ञ सोवे थिर होवे।
सुख आसक्त सदा नर जागे, किन्तु तत्वविद् निशि-कर राखे ॥१५॥

दो० वेगवन्त सरिता वहहि, जाह समुद्र समाहि।
नांहि विडोलहिं उदधिहिं, स्वयं शान्त, हुइ जाहिं ॥३१॥
भोग कामना एहि विधी, नाहि विकारै प्रज्ञ।
सोह प्रज्ञ शान्ति लभै, नाहि लभै कोउ अज्ञ ॥३२॥

चौ० निस्पृह होइ तजहिं सब कामा, कुन्तीसुत सोइ नर बड़ नामा।
ममता रहित होइ जो विचरै, छाड़ि अहम् निज कर्म संचरै।
पावै शान्ति सदा नर वो ही, या की ब्रह्म स्थिति अस होई।
ब्रह्म स्थित मोहित नहिं होवत, अंतकाल थिरमति वह ममगत।
थिरमति होइ ब्रह्म-गति पावे, ब्रह्मानन्द लीन हुइ जावे।
पार्थ जाहि मन बुद्धि प्रकाशै, द्वन्द्व तिमिर उनके सब नाशै।
विमल बुद्धि भव को तर लेवे, आसक्ती -मति कामहिं सेवे।
बुझहू पार्थ अन्य कोउ बाता, शान्त होय बोले यदुनाथा ॥१६॥

दूसरा अध्याय समाप्त

तीसरा अध्याय

दो० पार्थ कहे हरि आप मत, बुद्धि कर्म से श्रेष्ठ ।
घोर कर्म हित कहहु किम, केशव यह अति नेष्ट ॥१॥
मिश्रित वचन तुम्हार सुन, बुद्धि मोहवश मोर ।
निश्चय कर कहु एक मत, शरणागित मैं तोर ॥२॥

चौ० श्रेय होय जो मम हित लागी, कहहु एक मत हे वैरागी ।
कृष्ण कहे अर्जुन पुनि सुनहू, कहा पूर्व में पुनि सोई गुनहू ।
निष्ठा के प्रकार दो होई, जो जस सेवे पावे सोही ।
सांख्य जोग से ज्ञान प्रकाशे, बुद्धियोग से कर्म उजासे ।
ब्रह्म पाइ ज्ञानी सुख पावै, ममता छाड़ी योगी तर जावै ।
कोउ कोउ जना कर्म नही करही, निष्कामी निज को उच्चरहीं ।
कोउ कोउ कर्म त्याग करि देवे, अपने को ज्ञानी कह लेवे ।
ए दोउ जन योगी नही ज्ञानी, कर्म बिना रहि सकै न प्राणी ।

दो० कर्म मनुष्य स्वभावगत, यहाँ अवश नर होइ ।
हर क्षण अरु हर काल में, कर्म करावहिं सोइ ॥३॥
जो हठ करि संयम करै, मनहि विषय रत कीन्ह ।
मिथ्याचारी मूढ़मति, या नर की गति दीन ॥४॥

चौ० जो मन से इन्द्रिय वश करही, पुनि व्यवहार कर्म आचरही ।
पार्थ श्रेष्ठ नर वो जग मांही, अनासक्त सम दूसर नाही ।
अकर्म से है कर्म श्रेयकर, नियत कर्म करू श्रेष्ठ धनुर्धर ।
अर्जुन कर्म बिना तन रीता, तन निर्वाह करहि कस मीता ।
यज्ञ हेतु जो कर्म करे है, बंधन तहां कबहु नहि है है ।
अन्य कर्म इह जग सब बन्धन, कर्म यज्ञ करु कुन्तीनन्दन ।

होइ असंग आचरण कीजै, यज्ञ हेतु पुनि कर्महि कीजै ।
आदि काल जब सृष्टि रचाई, यज्ञ अग्नि तेहि काल बनाई ॥२॥

दो० सृष्टि के प्रारम्भ में, ब्रह्मा प्रजा बनाय ।
यज्ञ कर्म सह सर्जेउ, आशीषे पुनि आय ॥५॥
यज्ञ करो फूलो फलो, पावो सकल पदार्थ ।
निहित धर्म पालन करो, जीवन यही यथार्थ ॥६॥

चौ० देव प्रसन्न यज्ञ से होई, मनो कामना पूरे सोई ।
उन्नत देव, यज्ञ से कीजै, उन्नति फिर देवन से लीजै ।
एहि विधि परस्परहि हित होई, पर श्रेय जन जन को सोई ।
बिन मांगे इच्छित फल देवे, देवन देइ पुनःजो सेवे ।
देवहि दिये बिना जो भोगे, चोर कहावहि सो इह लोके ।
तन पोषण हित अन्न पकावे, ए नर पापी पापहि खावै ।
यज्ञ शेष जो अन्न बचेही, संत भक्ष्य तेहि पार उतरहीं ।
अन्न दान सम दान न दूजा, यज्ञहि कर्म धर्म ही पूजा ॥३॥

दो० प्राणी उपजै अन्न से अन्न, वृष्टि से होय ।
वृष्टि यज्ञ से होत है, जानत हैं सब कोय ॥७॥
यज्ञ विहित कर्महि किये वेद कर्म का स्रोत ।
वेद ब्रह्म से उद्भवै, सदा प्रकाशै जोत ॥८॥

चौ० यज्ञ मांहि सोइ ब्रह्म निवासै, जानि ताहि सब संशय नाशै ।
सृष्टि चक्र यह आदि अनन्ता, भेद न सकहि बुद्धिजन सन्ता ।
जे अनुकूल नांहि आचरहीं, इन्द्रिय-योग रमण नित करही ।
ए पापी जन, पार्थ कहावै, जीवन व्यर्थ तासु मुनि गावै ।
परं आतमा से रति जा की, परं आतमा तृप्ती जा की ।

परं आतमा से संतुष्टी, उनके कोउ कर्तव्य न सृष्टि ।
महापुरुष इह जग मे ए जन, कर्म माहिं नहि कोइ प्रयोजन ।
कर्म अकर्म दोउ सम जाके, स्वार्थ वृति कबहु नहि ताके ॥४॥

दो॰ आसक्ति को त्याग कर, करो कर्म कर्तव्य ।
लिप्सा तज कर्महि किये, पुरुष परं है लभ्य ॥९॥
जनकादिक ज्ञानी सभी, कर्म किये निर्लिप्त ।
परं सिद्धि को प्राप्त करि, जीवन वा को दीप्त ॥१०॥

चौ॰ इहां लोक संग्रह के हेतू, कर्महि उचित सुनो कपिकेतू ।
श्रेष्ठ पुरुष जेहि जेहि आचरही, अन्य जना सोइ सोइ अनुसरही ।
श्रेष्ठ जना प्रमाण करि देवे, लोके अन्य जना सोइ सेवे ।
पार्थ तीन लोकहिं के मांहि, कोउ कर्तव्य शेष मोहि नांही ।
प्राप्त योग्य, अप्राप्त न कोई, पुनि करि कर्म मोहे सुख होई ।
हौ यदि सावधान नहिं रहहूँ, कर्म हेतु शुचि पंथ न कहहूँ ।
तीनहूं लोक होत बड़ हानी, सब अनुसरै मोर कहि बानी ।
हौ यदि कर्म करुं नहि भाई, सर्वे जना भ्रष्ट हुइ जाही ॥५॥

दो॰ मोरे कारण एहि विधि, भ्रष्ट होइ सब लोक ।
संकरता कर्ता बनूं, नष्ट प्रजा बड़ शोक ॥११॥
कर्म सभी प्राणी करै, मूर्ख और विद्वान ।
ता पीछे का भावना, भारत सो तूं जान ॥१२॥

चौ॰ अज्ञानी जन लोक विचरहीं होइ आसक्त कर्म नित करहीं ।
सोई कर्म लोक हित हेतू, ज्ञानी करै सुनहु कपिकेतू ।
ता पीछे है एक भावना, अनासक्त अरु विगत कामना ।
ज्ञानीजन कर्तव्य है ए ही, कर्म ज्ञान अज्ञानिन देही ।

ऐसी मति वो नांहि प्रकाशै, कर्म मांहि श्रद्धा जेहि नाशै ।
स्वंय चरै सोइ अन्य चरावै, या भल नीति पार्थ श्रुति गावै ।
कर्म स्वत: स्वाभवगत होई, या मे नहि कर्ता होइ कोई ।
अहंकार मोहित मन जाको, मै कर्ता ऐसी मत वा को ॥६॥

दो० गुण उरु कर्म विभाग के, तत्व जानने हार ।
अंहकार को त्याग करि, सुमिरै सरजन हार ॥१३॥
गुण ही गुण में वर्तते, महाबाहो यह जान ।
ज्ञानी नहिं आसक्त है, यह या की पहचान ॥१८॥

चौ० प्रकृति गुणहि मोहे अज्ञानी, करै कर्म हुइ कर अभिमानी ।
गुण अरु कर्म होइ आसक्ता, मन्दबुद्धि करि अंह विचरता ।
बुद्धिमान यह जानै सबही, विचलित ताहि करै नहिं कबहीं ।
जो वो करै करन तेहि देवे, ज्ञानी जन निश दिन मोहि सेवे ।
हे अर्जुन मोरी सुन लीजे, ध्यान निष्ठ चित मुझमें कीजे ।
सभी कर्म मोहि अर्पण करहू, तजि सन्ताप युद्ध चित धरहू ।
आशा रहित, त्याग करि ममता, युद्ध करो मन धारहु समता ।
जो नर मोरे यह मत माने, छूटहिं कर्म बन्ध सब ताने ॥७॥

दो० दोष बुद्धि को त्याग करि, श्रद्धायुक्त मन कीन्ह ।
आवे मेरी शरण में, वा को ही भल चीन्ह ॥१५॥
जो नहिं माने मोर मत, दोष दृष्टि मति हीन ।
मोहित चित उबरे नही सर्वहि ज्ञान प्रवीन ॥१६॥

चौ० निज स्वभाव कोउ त्याग न पावै, प्राणी सब प्रकृति मंहि जावे ।
ज्ञानी निज स्वभाव अनुसरही, कोउ को हठ इसमे का करहीं ।
इन्द्रिय भोग मे अवगुण दो ही, श्रेय मार्ग ए बाधक हो ही ।

राग द्वेष तेहि नाम कहावे, इनके वश भल पुरुष न आवे ।
राद द्वेष दोउ जीतहि लीजै, अपनो धर्म आवरण कीजै ।
विगुण धर्म अपनो अति उत्तम, अन्य धर्म शुचि नाहि नरोतम ।
गर निजधर्म आवरण मांही, होवहि मृत्यु श्रेय सोइ भाई ।
अन्य धर्म पालन दु:खदायी, सदा चित्त में भय उपजायी ॥८॥

दो० अर्जुन पूछे कृष्ण से, यह बतलाओ मोय ।
कौन प्रेरणा के किये, पुरुष पापमति होय ॥१७॥
न चाहे तो भी करे, प्रेरित होइ बलात ।
पुरुष कौन वश होइ करि, पाप मार्ग में जात ॥१८॥

चौ० कृष्ण कहे सुन कुन्तीनन्दन, तीन गुणो मे एक रजोगुण ।
तासु काम को उद्भव होई, यही काम ही क्रोध है सोई ।
काम अग्नि सम सदा प्रचण्डा, कभी तृप्त नही भूख अखण्ड़ा ।
कामहि पापन मे बड़ पापी, समझ शत्रु यह बड़ सन्तापी ।
जेहि विधि धूम अग्नि ढकि देवे, जेहि विधि मल दर्पण ढकि लेवे।
जेहि विधि गर्भ जेर आवृता तेहि विधि काम ज्ञान ढकि चरता ।
अग्नि समान सदा यह भूखा, ज्ञानीजन के शत्रु स्वरूपा ।
ज्ञान तासु नित रहे ढकाई, सुनहु कुन्तिसुत मम मत याही ॥९॥

दो० मन, बुद्धि अरु इन्द्रियाँ, इसी काम के वास ।
जस चाहे तस प्रेरही, उपजावै सन्त्रास ॥११॥
एहि विधि ज्ञानहि ढकहि करि, मोहे सकल पुमान ।
काम प्रबल अति मोर मत, महाशत्रु तेहि जान ॥२०॥

चौ० ज्ञान और विज्ञान नसावे, काम प्रबल अति, मति फुर जावे ।
इन्द्रिय वश करि दृढ मति कीजै, पापी कामहि वध कर दीजै ।

इन्द्रिय परे देह से जानो, तासु परे मन की गति मानो।
मन से परे बुद्धि सब जाने, तासु परे आतमा बखाने।
आतम तत्व परम कर माने, जानि ताहि भ्रम जाहि नसाने।
फिर बुद्धि से मन वश किजे, दुर्जय कामहि वध कर दीजे।
महाबाहो बड़शत्रु ए ही, जीति लेत ज्ञानी नर वे ही।
भाँति-भाँति करि हरि समझावे, "शंकर" नेति नेति कर गावे ॥१०॥

तीसरा अध्याय समाप्त

चौथा अध्याय

दो० कृष्ण कहै सुनु कुन्तिसुत, आदिकाल की बात ।
सृष्टि के प्रारम्भ में, ज्ञान योग विख्यात ॥१॥
सर्वप्रथम मैने तभी, दिया सुर्य को ज्ञान ।
रवि ने मनु को फिर दिया, इसी योग का दान ॥२॥

चौ० इक्ष्वाकु मनु से पुनि लीना, ज्ञान–योग अविनाशी झीना ।
परम्परा से योग प्रवीना, राजऋषिहि पुनि धारण कीना ।
पुनि अर्जुन इह लोकहि मांही, लुप्त हुआ बहु काल बिताही ।
सोहि योग पुनि तोहि बतावा, तूं मम भक्त, मित्र, मन भावा ।
उत्तम और रहस्य भरा है, प्रकट तोर हित आज करा है ।
कहे पार्थ हरि बूझहुं तो सो, संशय एक बतावहुं मो सो ।
तोर जन्म इह काल हुआ है, सुर्य जन्म अति प्राचि कहा है ।
आदि काल कैसे समुझाया, बिना हुए कैसे बतलाया ॥१॥

दो० यह कैसे मानू प्रभू, आदिकाल के मांहि ।
आप हुए बिनु ही दियो, योग दीक्षा ताहि ॥३॥
कृष्ण कहे अर्जुन सुनो, तूं यह जाने नाहि ।
बहुत बार हम तुम सभी, जन्मे इह जग माहि ॥४॥

चौ० मै यह जानूं बात परंतप, तू नहीं जाने हुआ कालवश ।
मै अविनाशी अज परमेश्वर, प्राणी मात्र मोर वश "शंकर" ।
तदपि स्वयं स्वभाव वश करके, माया से प्रकटू तन धर के ।

जब जब धर्म हानि जग होइ, अधर्म वृद्धि जबहि जब होइ ।
तब तब रूप रचूं मै मोरा, भारत मेटहूँ संशय तोरा ।
साधूजन उद्धारहिं हेतू, दुष्ट विनाश करूं कपि केतु ।
धर्म स्थापित पुनि करने को, युग–युग प्रकटेहु जग चरने को ।
मै तोरे हित यह समुझावा, गूढ ज्ञान से भ्रमहिं नसावा ॥२॥

दो० जन्म, कर्म मयि दिव्य है, जाने जानन हार ।
तत्व ज्ञान के पारखी, अल्प मिले संसार ॥५॥
जो जाने मोहे तत्व से, वो मोहे ही पात ।
पुनर्जन्म ताको नहीं, देह त्याग जो जात ॥६॥

चौ० ज्ञान रूप तप से हुइ शुद्धा, आये शरण मोर बहु बुद्धा ।
राग क्रोध भय जे तजि दीना, मुझमे स्थित शरण मयि लीना ।
मोर स्वरुप प्राप्त सब होये, कपि ध्वज संशय करो न कोये ।
जो मोहि भजे जेहि विधि अर्जुन, सोइ विधि ताहि भजे मेरो मन ।
मेरो कह्यो, कियो सब वर्ते, वर्ति ताहि भवसागर तरते ।
कर्म सिद्धि अरु फल चाहन को, भजे पुरुष इह जग देवन को ।
अल्प प्रयास किये जग माही, कर्म किए सिद्धि मिल जाही ।
अस विधि भाँति भाँति समुझावे, अर्जुन को हरि मार्ग बतावे ॥३॥

दो० गुण अरु कर्म विभाग से, चार वर्ण मैं कीन ।
सब करि भी कार्ता नही, मोहि अविनाशी चीन्ह ॥७॥
बात–बात मे श्री हरि, करे बात विस्तार ।
'शंकर' ध्यान लगाइके, पार्थ हृदय में धार ॥८॥

चौ० कर्म मोहि नहिं करे लिपाही कर्म फलहिं मोहे स्पृहा नांही ।
एहि विधि जो जाने मोहि, भाई, कर्म संग वह बंधता नांही ।
पूर्व मांहि मुमुक्ष जन सबही, कर्म किये एहि जानी तबहीं ।

पूर्व नरा जेहि विधि सब कीना, तूं कर तेहि विधि पुरुष प्रवीना ।
कर्म कहा अरु का अकर्म ही, मोहित इत कविगण सबही ।
मै तोहि कर्म बतावहुँ ऐसो, अशुभहिं मुक्ति करावहि जैसो ।
कर्म है क्या ये भी तो जानो, क्या विकर्म यह भी पहचानो ।
रूप अकर्म का जानो ताता, गहन कर्मगति मै समुझाता ।।४।।

दो० देखे अकर्म कर्म में, औ अकर्म में कर्म ।
बुद्धिमान वह नरन में, योगी कर्महि धर्म ।।९।।
जा के कार्यारम्भ में, नहीं काम संकल्प ।
जारि दिये सब कर्म को, ज्ञान अग्नि नर अल्प ।।१०।।

चौ० ज्ञानीजन पंडित तेहि कहही, कर्म रतहिं कछु कर्म न करही ।
संग कर्मफल को नहि जाके, आश्रय रहित तृप्त मन वाके ।
आशा रहित चित्त अरु आत्मा, त्यागि सर्व परिग्रह शुद्धात्मा ।
केवल देह धर्म को मानी, कर्म करे हुइ निर अभिमानी ।
वह नर पाप कबहुं नहि पावे, जो कछु मिले तुष्ट हुइ जावे ।
द्वन्द्व रहित मतसर नहिं जाके, सिद्धि असिद्धि समहि करि राखे ।
ए नर कर्म करहिं नहिं बद्धे, जीवन ताहि सदा ही शुद्धे ।
संग रहित अर मुक्त सदा ही, चित्त, ज्ञान रति मुक्त मदा ही ।।५।।

दो० यज्ञ हेतु जो आचरै, नष्ट कर्म सब होय,
ब्रह्म भाव में लीन हुइ, ब्रह्म ही पावे सोय ।।११।।
श्रुवा ब्रह्म हवि ब्रह्म है, द्रव्य अग्नि सब ब्रह्म,
स्वयं, यज्ञ अरु कर्म भी, ब्रह्म है, पावै ब्रह्म ।।१२।।

चौ० अस विधि यज्ञ प्रकार अनेका, होइ सन्तोष भाव जेहि देखा ।
कोउ योगीजन पुजै देवा, ताको यज्ञ है पूजा सेवा ।
कोउ परब्रह्म अग्नि को सेवे, ब्रह्म रूप आहुति को देवे ।
संयम अग्नि अन्य कोउ सेवे, श्रवणादिक इन्द्रिय वशि लेवे ।
शब्दादिक विषया कोउ कोऊ, इन्द्रिय अग्नि भष्म करि सोऊ ।
इन्द्रिय कर्मह करे जो जो ही, प्राण कर्म होवे सो सो ही ।
योग अग्नि मे दह कर कोई, ज्ञान दीप्त मति, हरि रत सोई ।
कोउ कोउ द्रव्य यज्ञ को सेवे, शुभ कर्महि हित दानहि देवे ॥६॥

दो० तप रूपी कोउ यज्ञ करि, अपनो धर्म निभात ।
अष्ट–अंग कोउ योग करि, यज्ञ करे दिन रात ॥१३॥

चौ० यती अहिंसा यज्ञ आचरै, कोउ स्वाध्याय यज्ञ मे विचरे ।
हवन करे कोउ प्राण अपाने, कोउ अपान को प्राणहि हवने ।
कोउ अपान अरु प्राण निरोधे, प्राणायाम यज्ञ मन शोधे ।
कोउ नियमित आहारहिं सेवे, प्राणन मे प्राणन हवि देवे ।
ए सब यज्ञहि जानन हारा, कल्मष नाश यज्ञ करि डारा ।
हे कुरुश्रेष्ट यज्ञ फल रूपम, ज्ञानामृत शुचि और अनुपम ।
पाइ, योगिजन ब्रह्महि पावे, ब्रह्मानंद पाइ तर जावे ।
यज्ञ रहित को, सुख नहिं लोके, पावहिं सुख कैसे परलोके ॥७॥

दो० वेद वाणि एहि भाँति से, यज्ञ अनेक बतात ।
कर्म किए ही यज्ञ सब, सफल होय सुनु भ्रात ॥१४॥
जो यह जाने तत्व से, कर्म योग निस्काम ।
भव बंधन ताको मिटे मन पावे विश्राम ॥१५॥

चौ० द्रव्य (कर्म) यज्ञ से इह जग मांही, मिले सकल सुख जो जो चाही।
ज्ञान यज्ञ, पर है अति उत्तम, सर्व कर्म तंह शेष नरोत्तम ।
मानहु मोर सीख कुरुनन्दन, सदा करो सेवा ज्ञानीजन ।
हुई प्रणिपात प्रश्न तोहि कीजे, छल तजि शरणागत हुइ लीजे ।
ज्ञानी, तत्व जानने हारे, पुनि छेदहिं भ्रम सकल तुम्हारे ।
वे उपदेश ज्ञान तोहि दे ही, पुनि तोहि मोह व्याप्त नहिं हो ही ।
सोह ज्ञान जब उर धरि लेही, मिलहिं तोहि परब्रह्म सनेही ।
जानहि तब सब एक स्वरूपा, तूं, मैं अन्य रंक अरु भूपा ॥८॥

दो० जाने यदि तू स्वयं को, बड़ पापी जग मांहि ।
ज्ञान-नाव में बैठ करि, सभी पाप तरि जांहि ॥१६॥
जेहि विधि अग्नि प्रवेष करि, ईंधन सब जरि जात ।
ज्ञान अग्नि में सोइ विधि, कर्म भस्म हुइ पार्थ ॥१७॥

चौ० निःसंदेह जगत के मांही, ज्ञान समान शुद्ध कोउ नांही ।
बहुत काल जो योगहिं सेवे, पुनि सोइ ज्ञान लाभ करि लेवे ।
निज आत्मा में अनुभव करि है, ज्ञान पाइ भवसागर तरि है ।
जो जितेन्द्रिय है अर तत्पर है, श्रद्धावान पुरुष मत्पर है ।
ज्ञान-प्राप्ति वो ही कर पावै, शीघ्र शांति वाके ढिग आवै ।
अज्ञ परुष अर श्रद्धा हीना, संशय युक्त पुरुष मति दीना ।
होइ विनाश तासु दृढ़ कहहूं, अर्जुन ज्ञान पाइ सुख लहहू ।
संशय आत्मा सदा विनाशै, ता जीवन से सब सुख नाशै ॥९॥

दो० ना सुख है इह लोक में, ना परलोक सुखाहि ।
संशय मति कोउ गति नहीं, दोनों लोक नसाहि ॥१८॥

चौ० योग युक्त कर्महि जो करि है, ज्ञानहि से संशय सब जरि है ।
आत्मवन्त को कर्म न बान्धे, ए निस्काम कर्म संसाधे ।
है अज्ञान बहुत दुखदायी, हृदय मांहि संशय उपजाहीं ।
योग मांहि मन को थिर करहू, ज्ञान खड्ग संशय वध करहू ।
संशय भेदि उठो हे भारत, युद्ध करो रण भूमि पुकारत ॥१०॥

चौथा अध्याय समाप्त

पंचम अध्याय

दो० कर्महिं के संन्यास की, करो प्रशंसा आप ।
कर्मयोग पुनि श्रेष्ठ कहु, यह कैसे, निष्पाप ॥१॥
दोनो में जो श्रेय हो, होय सुनिश्चित राह ।
अर्जुन पूछे कृष्ण से, सोहि मोहि बतलाह ॥२॥

चौ० एक मार्ग सन्यास बतायो, कर्मयोग पुनि दूसर गायो ।
दोनों मार्ग परम हितकारी, सुनहु धनज्जय बात हमारी ।
कर्मयोग फिर भी है उत्तम, होइ निष्काम आचरौ हरदम ।
जो नर कभी द्वेश नहिं करि है, बिन इच्छा निष्काम विचरि है ।
वह नर सदा सदा सन्यासी, जो निर्द्वन्द्व सदा सुख राशि ।
सोह मुक्त-बंधन जग मांही, द्वन्द्व रहित सम दूसर नांही ।
सांख्य योग अरु कर्म योग को. अलग कहे है मूर्ख लोग वो ।
पडित अलग अलग नहि भाषै, फल दोनों का एक प्रकाश ॥१॥

दो० दोनों में से एक में, स्थित होय भल भांत ।
पावे परमानन्द को, कृष्ण पार्थ समुझात ॥३॥

चौ० सन्यासी नर जो गति पावे, योगी भी सोइ धाम सिधावे ।
सांख्य योग दोउ एकहिं देखे, पार्थ यथार्थ सोइ नर देखे ।
योग बिना संन्यास कठिन है, कर्मयोग जीवन का धन है ।
योग युक्त मुनि ब्रह्महि पावे, नांहि विलम्ब ताहि पथ आवे ।

अन्तःकरण शुद्ध है जाको, जितेन्द्रिय तन वश करि राख्या ।
योग युक्त कर्मी निष्कामी, सब प्राणिन मे एकहि स्वामी ।
यह सम बुद्धि धारि जो वर्ते, लिप्त नांहि वह कर्महि करते ।
संन्यासी जो तत्वहि जाने, मै कचु नांहि करू यह माने ॥२॥

छन्दः तत्व को जो सांख्य योगी, जानता वह जानता ।
कि देखता, सुनता हुआ, छूता हुआ, सोता हुआ ।
भोजन को लेता, गमन करता, सूंघता अरु बोलता ।
त्यागता अरु ग्रहण करता, पलक ढकता खोलता ॥१॥
श्वाँस को लेता हुआ, उठता हुआ अरु बैठता ।
स्वप्न का आनन्द लेता जागता अरु लेटता ।
इन्द्रियां सब निजहि अर्थहि वर्तती वह जानता ।
यह समझकर "मै" कुछ भी करता नही वह मानता ॥२॥

दो॰ यह साधन कछु कठिन है, कर्मयोग आसान ।
कर्म ब्रह्म अर्पण करो, तजो संग श्रीमान ॥४॥
अनासक्त जो कर्मफल, नांहि लिपाते पाप ।
कमल पत्र जल में रहे, जल न डुबावे आप ॥५॥

चौ॰ तन, मन, बुद्धि इंद्रियाँ सबही, कर्म करे योगी जब जब ही ।
आसक्ति ता मे नही राखे, आत्म शुद्धि हित कर्महि जाके ।
जो निष्काम कर्मरत रहही, निष्ठावान कर्मफल तजहीं ।
वो हि शांति पावे सुनुभ्राता, कर्म फलहिं अर्पे जगत्राता ।
फल आसक्त सकामी नर के, बंधन रहे कामना करके ।
अन्तः करण जाहि वश कीन्हे, सर्वकर्म मन से तज दीन्हे ।
नव द्वारे का पुर यह देही, न कछु करे, न कछु करवाही ।
सांख्य योगी यह, सुख से रहही, इंद्रिय कर्म स्वभावहिं करही ॥३॥

दो० कर्तापन अरु कर्म को, कर्मफलहिं संयोग ।
परमेश्वर रचना नहीं, होइ प्रकृति वश लोग ॥६॥
न पापहि, न सुकृतहिं, हरि ग्रहणे कोऊ केइ ।
ज्ञान ढक्यो अज्ञान से जीव मोह वश होहि ॥७॥

चौ० अन्तकरण अज्ञान बसाई, ज्ञानहिं से जो करे नसाही ।
रवि समान सोइ ज्ञान प्रकाशैः ब्रह्म पाइ संशय सब नाशै ।
सोइ तद्‌बुद्धि सोइ तन्निष्ठा, सोइ तदात्म, सोई समदृष्टा ।
सोइ ज्ञान से पाप नसावे, तत्पर पुनरावृति न पावे ।
ऐसे ज्ञानी जन अति थोरे, वन्दउ ताहि सदा कर जोरे ।
हो चाहे विद्याधर ब्राह्मण, गउ, हाथी कुत्ते, चांडालन ।
सबहित समदर्शी है रहही, भेद भाव की बात न कहही ।
साम्यभाव में मन थिर जाको, जीत लियो जीवित, जग आखो ॥४॥

दो० ब्रह्म सदा निर्दोष है, और सदा सम भाव ।
सोइ विधि, समदर्शी रहे, द्वेष न काहु लगाव ॥८॥

चौ० ना हर्षे प्रिय पाइ कभी वह, दुःख न करै पाइ अप्रिय वह ।
ब्रह्म स्थित ब्रह्मवित रहही, संशय रहित स्थिर मति कहही ।
जगत् विषय आसक्ति हीना, पात परमसुख पुरुष प्रवीना ।
ब्रह्म योग मे जो रत रहही, अक्षय सुख आनन्दहि लहही ।
इन्द्रिय विषय जनित सब भोगा, है अनित्य दुःख कारण जोगा ।
हे कोन्तेय विवेकी जे है, इन्द्रिय विषय नही रमते हैं ।
काम क्रोध के वेग प्रबल है, सहन करे नर वोहि सबल है ।
ऐसो नर योगी कहलावे, जीवन मे वो ही सुख पावे ॥५॥

दो० आत्मा में है जो सुखी, आत्मा में आराम ।
आत्मा में ही ज्योति है, आत्मा में ही काम ॥९॥
आत्मा में ही नित्य गति, आत्मा में मिलि जात ।
ऐसो योगी ब्रह्मरत, सदा ब्रह्मगति पात ॥१०॥

चौ० जाके पाप नष्ट हुइ गये है, संशय भी अब नाहि रहे है ।
सब प्राणिन हित मे रति जाकी, मन एकाग्र, ध्यान रति लागी ।
ऐसे ऋषिहिं ब्रह्म गति पाते, शांति पाइ आनन्द रमाते ।
जे परब्रह्म साक्ष्य कर लीन्हे, काम क्रोध तजि चितवश कीने ।
ए ज्ञानी परब्रह्महिं पावे, जानि ताहि आनन्द मानावे ।
कृष्ण कहे अर्जुन पुनि सुनहू, ध्यानयोग संक्षेपहि गुनहू ।
बाह्य विषय त्यागे बाहर ही, नेत्र दृष्टि भृकुटि विच करही ।
श्वास नासिका आवे जावे, प्राण अपान सोइ कहलावे ॥६॥

छन्द: श्वास की दोउ नासिका से, प्राण अपान बहे सदा ।
सम ताहि करि जो राखि लेवे, मोक्षरत मुनि सर्वदा ।
जे इंद्रिया, मन, बुद्धि जीती, क्रोध, भय, इच्छा तजी ।
"शंकर" सदा वह मुक्त ही, आनन्द की बन्शी बजी ॥३॥

दो० मैं ही भोगुं यज्ञ, तप, मैं ही जगत महेश ।
मैं ही सबका सुहृद हूं, मुझमें सबही शेष ॥११॥
जो यह जाने पृथा सुत, पावे शान्ति अनन्त ।
तत्व ज्ञान के पारखी, "शंकर" कतिपय सन्त ॥१२॥

पांचवा अध्याय समाप्त

छठा अध्याय

दो० योगी संन्यासी वही, कर्म करे निष्काम ।
कर्म-फलहिं आश्रित नहीं, निज मुख भाषे श्याम ॥१॥
केवल अग्नि त्याग से, नहि संन्यासि होय ।
योगी कैसे हो सके, क्रिया त्याग करि कोय ॥२॥

चौ० जो संन्यास कहावे भारत, सोइ योग तूं जान तोर हित ।
जो संकल्प त्याग नहिं करि है, सो नर योगी नांहि उवरि है ।
योगारूढ चहहिं मुनि जे ही, कर्म कामना तजि हित ह्वे ही ।
योगारूढ होइ नर रहहीं, "शम" कारण तंह मुनिजन कहहीं ।
न भोगहिं न कर्म आसक्ता, सब सकल्प त्याग करि रहता ।
योगारूढ सोइ कहलावे, निज विवेक भव सिंधु लंघावे ।
मोरी सीख धारि मन लेवो, अधोगति हित श्रम तज देवो ।
जीव स्वयं ही है निज मीता, और स्वयं शत्रु निज ही का ॥१॥

दो० जे तन मन इन्द्रिय वशी, आत्मा सो निज मीत ।
जे ऐते ना वश करी, शत्रु स्वयं यहि रीत ॥३॥
शीत, उष्ण, सुख-दुःख में, मान और अपमान ।
जा ने जीती आत्मा, शान्त समाहित जान ॥४॥

चौ० जे विज्ञान ज्ञान से तृप्ता, जे विकार से नांहि लिप्ता ।
जे जीती इन्द्रिय भल भाँति, स्वर्ण मिट्टी जे सम कर राखी ।
योगी सोइ युक्त कहलावे, कृष्ण स्वयं मुख से समुझावे ।
सुहृय, मित्र, बन्धू, अध्यस्था, बैरी, उदासीन, पापिष्ठा ।
द्वेषी, धर्मपरायण सबही, भाव रखे सब मे जो सम ही ।

वह अति श्रेष्ठ पुरुष जग मांही, ता सम योगी दूसर नांही ।
मन इन्द्रिय शरीर वश राखे, सदा अपरिग्रह को व्रत जाके ।
एकाकी एकान्तहि सेवे, आत्मा परब्रह्महि चित देवे ॥२॥

दो० ध्यान योग विधि, ध्यान से, सुनो धनन्जय भ्रात ।
कुश, मृगछाला वस्त्र को, आसन भूमि बिछात ॥५॥
भूमि शुद्ध समतल हुवै, ना ऊंची, ना नीच ।
आसन स्थिर स्थापिके, बैठे ता के बीच ॥६॥

चौ० चित अरु इन्द्रिय क्रिया वसाई, मन एकाग्र करे पुनि भाई ।
अन्तःकरण शुद्ध हित हेतु, योगाभ्यास करे कपिकेतु ।
काया, सिर, ग्रीवा समराखे, अचल स्थिर तन की गति जाके ।
दृष्टि, नासिका अग्रे होई, देखे अन्य दिशा नहीं कोई ।
भय से रहित रहे ब्रह्मचारी, अन्तःकरण शान्त व्रत धारी ।
मन संयम्य चित मयि राखे, मत्पर होइ ब्रह्म रस चाखे ।
एहि विधि योगी मन वश कीना, आत्मा मुझ हरि मे नित लीना ।
वो ही परं शान्ति को पावे, पाइ ताहि मुझमे मिलि जावे ॥३॥

दो० मुझमें जो नित हो रहे, परमानन्दहि छोर (परकाष्ठा) ।
सोइ शान्ति योगी लभै, या में ना मत और ॥७॥

चौ० योग सिद्धि "शकर" नहिं पावे, हे अर्जुन जो बहुतहि खावे ।
जो नहिं खावे और न सोवे, योग सिद्धि ताकी नहिं होवे ।
जो बहुतहि जीवन मे सोवे, योग सिद्धि बिनु जीवन खोवे ।
दुःख विनाशन कारी योगा, पावे युक्त आहारी लोगा ।

युक्त विहार जाहि को होवे, कर्म चेष्टा युक्तहि जो है ।
यथा योग्य सोवे अरु जागे, योग सिद्धि होवे भय भागे ।
वश में होइ चित्त अति जाको, जेहि क्षण ब्रह्म स्थित हुड़ राख्यो ।
सर्वभोग ममत्व नहिं जाके, योग युक्त तेहि क्षण अस भाखे ॥४॥

दो० वायु रहित स्थान में, दीप स्थित जेहि होय ।
ब्रह्म ध्यानत चित्त की, उपमा होवे सोय ॥८॥
चित्त निरुद्धहिं होत है, योगहिं के अभ्यास ।
पुनि विरक्त मन होत है, मिटे सभी संत्रास ॥९॥

चौ० जबहि बुद्धि आत्मा को ध्यावे, सोइ चित्त परमात्मा पावे ।
पाइ ताहि सन्तुष्टि होवे, सूक्ष्म बुद्धि बिनु मिलहि न कोवे ।
सुक्ष्म, शुद्ध बुद्धि जब होइ, नित्य आनन्द मिलावे सोइ ।
इन्द्रियातीत अनन्त आनन्दा, पावे वह योगी सुख कन्दा ।
पाइ परम आत्मा स्वरूप को, होइ स्थित रहता स्वरूप सो ।
परम् आत्मा जब मिलि जावे, अन्य लाभ सब गौण लखावे ।
आत्म स्थित योगी जब होइ, विचलित करे न बड़ दुःख तोही ।
यह संसार दुःखकर रूपा, योग सदा आनन्द स्वरूपा ॥५॥

दो० दुःख रूप संसार से, सदा सदा जो दूर ।
योग नाम विख्यात है, जानो ताही शूर (अर्जुन) ॥१०॥
सोइ योग चित धैर्य धरि, पुनि उत्साही होय ।
करहु बिना उकताइये, निश्चय पूर्वक सोय ॥११॥

चौ० जो संकल्प होइ मन मांही, काम कामना पुनि उपजाही ।
ए सब पूर्णरूप तजि देवे, इन्द्रियवश मन से करि लेवे ।
शनैः-शनै करि करि अभ्यासा, उपरामहि होवे सुनु भ्राता ।
धैर्य युक्त बुद्धि के द्वारा, आत्म स्थित मन होइ हमारा ।
जब मन आत्म स्थित होइ जावे, पुनि कछु और नांहि मन भावे ।
अस्थिर मन चंचल अति होई, भ्रमत रहत जग सुख हित सोई ।
जेहि जेहि कारण सो, मन भटके, सोइ सोइ कारण सब वश करके।
परम् आत्मा मे ही निरोधे, अर्जुन को माधव उद्‌बोधें ॥६॥

दो० भली भाँति मन शान्त जेहि, और पाप से मुक्त ।
शान्त रजोगुण जाहि को, सो आनन्दहि युक्त ॥१२॥
ब्रह्मभूत योगी वही, वो ही सुख आगार ।
उत्तम सुख, आनन्द को, पाय होत उद्धार ॥१३॥

चौ० पाप रहित योगी एहि भांती, आत्मा मे रत होइ दिन राती ।
सुख पूर्वक परब्रह्महि पावे, अति आनन्द पार्थ तेहि आवे ।
योग युक्त आत्मा जब होई, सब मे समदर्शी नर सोई ।
सब प्राणित मे आत्मा देखे, आत्मा मे सब भूत विलोके ।
जो सबमें मेरे को देखे, सबको मेरे मे पुनि देखे ।
ता हित हौ अदृश्य न होऊ, मो हित ना अदृश्य है सोऊ ।
सब प्राणिन मे मेरा वासा, ऐसो समझ भजे हरश्वासा ।
एको भाव स्थित मयि होकर, सब कछु करि वर्ते मयि "शंकर" ॥७॥

दो० सम दृष्टि सब भूत में, सम दृष्टि सुख दुःख ।
परम श्रेष्ठ योगी वही, अर्जुन सुन हरि मुख ॥ १४॥
ध्यान योग सम भाव से, किये होत क्या काम ।
चंचल मन ठहरे नहीं, बहुत काल सुनु श्याम ॥१५॥

चौ० मन चंचल अति हे मधुसूदन, है स्वभाव से ही अति प्रमथन ।
अर्जुन कहे सुनो भगवाना, मन अति दृढ़ है अति बलावाना ।
जेहि विधि वात न वश मे होई, मन वश करन है दुस्कर सोई ।
कृष्ण कहे यह ठीक महाबल, निसन्देह है मन अति चचल ।
मन अभ्यास किये वश होई, पुनि वैराग्य धारिले कोई ।
जा को मन ना वश में भाई, है दुष्प्राप्य योग तिन ताई ।
करि करि यत्न जेहि मन जीता, योग पात, मत मोर, है मीता ॥८॥

दो० शिथिल यत्न करि करि कोई, श्रद्धा युक्त नर कोय ।
पूछे अर्जुन कृष्ण से, ता की का गति होय ॥१६॥
ध्यान योग अभ्यास करि, मन जाको थिर नाँहि ।
योग सिद्धि ना पाइ करि, केशव को गति पाहि ॥१७॥

चौ० परब्रह्महि पथ मोहित नर जो, क्या नाशै ? जिमि नाश अभ्र को।
उभय भ्रष्ट क्या ता को होई, ना हरि मिले न जग सुख कोई ।
यह सशय केशव मन मोरे, मेटनहार नाहि सम तोरे ।
छेद्हु पूर्णतया यह संशय, आप योग्य है हे हरि अव्यय ।
हरि बोले सुनु पार्थ धनुर्धर, वह नहि नाशै इहाँ उहाँ पर ।
तात कर्म शुभ जो नर करि है, कबहूं सो दुर्गति ना परि है ।
पूण्यवान जो लोकहि पावे, योग भ्रष्ट सोइ लोकहि जावे ।
बहुत काल तंह करे निवासा, जन्मे शुचि श्रीमताहि वासा ॥९॥

दो० ज्ञानवान योगी कुले, अथवा जन्मे सोय ।
पर अति दुर्लभ जन्म यह, लोके पावे कोय ॥१८॥
पूर्व जन्म साधन किये, पात बुद्धि संयोग ।
ताहि प्रभावहिं पार्थ सुनु, साधे पुनि वह योग ॥१९॥

चौ० योगभ्रष्ट वह विषय वशी भी, पूर्व किये अभ्यास वशी ही।
योग हेतु आकर्षित होवे, जिमि जिज्ञासु योग संजोवे।
ए दोनो कर्महि 'फल लंघे, शुद्ध सदा जैसे सरि गंगे।
जन्म जन्म जे कीन्ह शुद्ध मन, करि अति यत्न अभ्यास रतहि जन।
होइ सर्वपापहिं से शुद्धा, पात परम गति एहि विधि बुद्धा।
योगी श्रेष्ठ सकामी नर से, योगी बन तूं योगहि करके।
श्रद्धावान जो मयि चित देवे, अन्तर्मनहिं मोह भजि' लेवे।
सब योगिन मे योगी सो ही, परम श्रेष्ठ मै मानू वो ही ॥१०॥

अध्याय छः समाप्त

सात अध्याय

चौ० सुनहु पार्थ ! बोले मधुसूदन, मयि आसक्त योगरत जो जन ।
मुझ मे मन से सदा परायण, संशय रहित, समग्र नारायण ।
जो जाने मुझको जेहि भांति, सुनहु सोइ, मो सो भल भांति ।
तत्व ज्ञान सोइ गूढ़ गंभीरा, मै सब कहहुं सुनहु धरि धीरा ।
ज्ञान सोइ इह लोकहि मांही, जानन योग्य शेष कछु नाही ।
सहस सहस नर मे कोइ एका, सिद्धी हेतु यत्न रत देखा ।
यत्नशील योगिन जो होई, जानत मोहि तत्वत कोई ।
सुनहु मोर प्रकृति कर भेदा, अपरा, परा नाम धरि वेदा ॥१॥

दो० अपरा जड़ प्रकृति मयी, आठ भेद सोइ जान ।
पृथ्वी, जल आकाश अरु, अग्नि वायु पुनि मान ॥१॥
मन, बुद्धि आगे कहूँ, अहंकार पुनि आठ ।
परा प्रकृति चेतनमयी, धारे जगत विराट ॥२॥

चौ० आगे सुनु अर समझ सुजाना, जगत मांहि भूतहिं विधि नाना ।
दोनो प्रकृति ताहि उपजावे, "शंकर" हरि चरणहिं सिर नावे ।
मैं ही जगत् उत्पत्ति कारण, मै ही प्रलय रूप अरु धारण ।
मोरे सिवा नाहि कछु ओरा, मै ही मै, सब दिशि सब छोरा ।
मणिगण एक सूत्र जिमि रहहीं मुझमे गुंथा जगत रह तहही ।
जल में मे रस सुना धनंजय, चन्द्र, सूर्य मे मे हो प्रभामय ।
सर्व वेद ओंकार स्वरूपा, गगन मध्य मे शब्दहि रूपा ।
पुरूषों मे पुरूषत्व हूँ भाई, पृथ्वी मे शुचि गंध समाई ॥२॥

दो० अग्नि में मैं तेज हूँ, सब भूतन में प्राण ।
पार्थ सुनो आगे कहूँ, तपसी का तप जान ॥३॥

चौ० सब भूतन का बीज सनातन, जान मोहि कुन्तीसुत अर्जुन ।
बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूँ, तेजवान का तेजहिं मै हूँ ।
बल, जो काम राग से हीना, सो बल मै बलवन्त प्रवीना ।
काम, धर्म के जो अनुकूला, मै ही हूँ सब भूतन मूला ।
त्रिगुण भाव जो दीखे जग मे, राजस, तामस सत् के मग मे ।
ये मेरे से ही सब निकसे, मैं निर्लिप्त रहूं पुनि तिन से ।
ना मै उनमे, ना वो मुझमे, सर्व जगत मोहित है उनमे ।
ता के वश नहि तत्व पिछाने, मुझ अविनाशी को नहि जाने ॥३॥

दो० त्रिगुण मयी माया मोरी, अति अद्भुत अति घोर ।
जो मो को निशि दिन भजे, वो ही पावे छोर ॥४॥
वो ही भव सिंधु तरे, भजे निरंतर मोहि ।
"शंकर" प्रभु के भजन सम, सरल उपाय न कोई ॥५॥

चौ० माया, जाहि ज्ञान हर लीने, आसुरि भाव धार जिन लीने ।
ए नर अधम, मूढ दुष्कर्मी, करे न भजन मोर, हठ धर्मी ।
सुकृत कर्म करे जग मांही, वो मोहि भजे चतुर्वित भाई ।
अर्थार्थि, आर्त, जिज्ञासु, चौथा ज्ञानी ज्ञान पिपासू ।
ज्ञानी भक्त श्रेष्ठतम होई, नित्य युक्त भक्ति रत सोई ।
ज्ञानी को मैं अति प्रिय लगूं, मै ज्ञानी हित सब कुछ त्यागूं ।
चारों भक्त है बहुत उदारा, पर ज्ञानी निज रूप है प्यारा ।
स्थिर बुद्धि उत्तम गति रूपम्, मुझमे स्थित है मोर स्वरूपम् ॥४॥

दो० ए मत मेरो पार्थ सुन, ज्ञानी अति प्रिय मोय ।
जन्म जन्म मो को भजे, ज्ञानी दुर्लभ सोय ॥६॥
भजत भजत बहु जन्मनि, ज्ञान वान सोइ होय ।
वासुदेव जाने सर्वहिं, दुर्लभ सन्त है कोय ॥७॥

चौ० ज्ञानभ्रष्ट स्वभाव निज प्रेरे, धारे नियम कामना केरे ।
जेहि जेहि भाँति कामना व्यापे, सोइ सोइ भांति नियम धरि राखे ।
मति अनुकूल देव बहु पूजे, विषयासक्त मार्ग नहि सूझै ।
जो जो भजे भांति जेहि जेहि, पूजे देव श्रद्धा करि तेही ।
उस उस की उस देवन मांही, स्थिर श्रद्धा करि राखूं भाई ।
सो नर सोइ श्रद्धा धरि मन में, रहे सदा रत तिन पूजन मे ।
इच्छित भोग पूजि तेहि पावे, पाइ ताहि मन मे हर्षावे ।
ए मति अल्प समझ नहि आवे, अन्त वंत फल पाइ रिझावे ॥५॥

दो० जो नर पूजे देव को, देवलोक सो जात ।
मेरे में रत भक्तजन, मेरो ही पद पात ॥८॥
मुझ अविनाशी ब्रह्म को, तत्व न जाने जोय ।
बुद्धिहीन नर पार्थ ये, व्यक्ति ही जाने मोय ॥९॥

चौ० निज माया आवृत रहूं मै, सब सम्मुख प्रत्यक्ष नही मै ।
मै अजन्म अविनाशी अर्जुन, जाने नही सकाम मूढ़ जन ।
भूत, भविष्य और इह काले, मै जानूं सब भूत त्रिकाले ।
पर कुन्तीसुत भक्ति हीना, नहि मोहि जाने योग विहीना ।

इच्छा और द्वेष के कारण, द्वन्द्व मोहवश जग में सब जन।
मोहित सब अज्ञान बसाई, भजन नांहि ता सो बनि आई।
जे नर पुण्य कर्म जब करि है, पापकर्म जाके सब जरि है।
द्वन्द्व मोह से होइ विमुक्ता, दृढ़ व्रत धारि भजे मोहि भक्ता ॥६॥

दो० आश्रय मेरो ग्रहण करि, यत्न करे नर कोय।
जरा मरण से मुक्ति हित, जाने मोहे सोय ॥१०॥
वे ही जाने ब्रह्म को, अरु जाने अध्यात्म।
वे ही जाने कर्म, सब, सुनहु परंतप भ्रात ॥११॥

चौ० मैं अधिभूत मै ही अधिदेवा, मै अधियज्ञ जानि जिन लेवा।
ए सब युक्त चित्त नर आने, अन्त काल मुझको पहचाने।
जानि मोहि मेरी गति पावे, अर्जुन को हरि यो समझावे।
"शंकर" केशव के गुण गावे, संजय भूपति को बतलावे ॥७॥

अध्याय सात समाप्त

अध्याय आठ प्रारम्भ

छन्दः अर्जुन कहे, हे कृष्ण -अब, मोहे बताओ ब्रह्म क्या ।
अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, और वो अधिभूत क्या ॥
अधिदेव किसका नाम है, अधियज्ञ मै किसको कहूँ ।
केहि भाँति चाले अन्त काले, मुक्त चित जानन चहूँ ॥१॥

बोले मुरारी कुन्तिसुत, नाशै नही वह ब्रह्म है ।
वह जीव ही अपना स्वरूप है, नाम से अध्यात्म है ॥
प्राणियो में भाव जो उद्भव हुवे फिर आवरै ।
शास्त्र के अनुकूल वर्ते, कर्म नामहि संचरै ॥२॥
उत्पन्न होवे, नाश होवे, वो सभी अधिभूत है ।
जो आदि पुरूष है, वो हि तो अधिदेव नाम आहूत है ।
नर श्रेष्ठ अर्जुन देह मे, अधियज्ञ मेरो नाम है ।
सुमिरन करे जो अन्तकाले, पात मेरी धाम है ॥३॥

दो० **अन्तकाल सुमिरन करे, देह त्याग जो जात ।**
इसमें कोउ संशय नहीं, मम स्वरूप ही पात ॥१॥

चौ० जेहि जेहि भाव सुमरि तन त्यागे, अन्तकाल अर्जुन सुन आगे ।
भाव रहे चिन्तन मे जो ही, सोइ सोइ ता नर की गति होई ।
एहि कारण सब कालहि मांहीं, सुमरि मोहि अरु युद्ध दृढ़ाई ।
मन बुद्धि मोहि अर्पण कीजे, संशय छाड़ि मोर गति लीजे ।
जो अभ्यास योग से युक्ता, चित्त न भटके सुनु प्रिय भक्ता ।
रहे निरन्तर चिन्तन रत ही, पावे परम दिव्य पुरूषम् ही ।
जगत नियन्ता ब्रह्म अनादि, सुक्ष्म से सुक्ष्म अचिन्त्य प्रकाशी ।

वह सर्वज्ञ धारयति सर्वम्, अन्धकार से पर सूर्य सम ।
ऐसो जानि भजे परमेश्वर, पात परम गति जड़मति "शंकर" ॥१॥

दो० अन्तकाल में भक्त नर, योग बलहिं आधार ।
प्राण मध्य भृकुटि करि, निश्चल मन व्यापार ॥२॥
पुनि सुमिरन मेरो करे, दिव्य स्वरूप अनादि ।
परम पुरूष परमात्मनहि, पाइ मिटे सब व्याधि ॥३॥

चौ० आगे सुनो कपिध्वज वीरा, क्या है "परम" विषय गंभीरा ।
वेद विद: "औंकार" पुकारे, जा हित नर ब्रह्मचर्यहि धारै ।
वीतराग यतिजन सोइ जानी, करे प्रवेश "परम" मे ज्ञानी ।
सोइ परम पद तव हित लागी, करि संक्षेप कहूँ बड़ भागी ।
सब इन्द्रिय द्वारहि संयम्य, मन हृद मध्य स्थिर अगम्य ।
मस्तक मध्य प्राण आधाय, योग धारणा, स्थित जनाय ।
'ॐ' नाम मम ब्रह्म स्वरूपा, करि करि जाप ओम मम रूपा ।
चिन्तन करि मोहि, देहहि त्यागे, पावे परमगति बड़ भागे ॥२॥

दो० जो अनन्य चित स्थित हुई, सदा भजे निश्वार्थ ।
सदा युक्त मयि, योगी जो, सुलभ ताहि में पार्थ ॥४॥
परम सिद्धि पाये हुवे, पाइ मोहि महात्मान ।
पुनर्जन्म पावे नहीं, जो मोहि भजे पुमान् ॥

चौ० पुनर्जन्म क्षणभंगुर भाता, पुनर्जन्म दुःख को घर ताता ।
सिद्धि प्राप्त, सो कबहु न पावे, वो मेरो ही धाम सिधावे ।
ब्रह्म लोक अरु अन्ये लोका, पुनरावृत्ति स्वभाव है सबका ।
पर कुन्तीसुत जो मोहि पावे, पुनर्जन्म वो कबहुँ न आवे ।
सहस सहस युग, दिन अरु राती, ब्रह्मा की श्रुति हमे बताती ।

ए साअवधि, पुरूष जो जाने, है अनित्य माने विद्वाने ।
काल तत्व के जानन हारे, ये योगीजन कतिपय प्यारे ।
तत्व रूप से जो विदु जाने, काल तत्व को वो पहचाने ॥३॥

दो० सब जन्में अव्यक्त से, ब्रह्मा के दिन मांहि ।
ब्रह्मा की निशि में सभी, ताहीं में मिलि जाहि ॥६॥
अवश भूत समुदाय सब, होइ-होइ पुनि लय होत ।
दिवस काल उत्पन्न है, रात्रि में क्षय होत ॥७॥

छन्द: अव्यक्त से भी अति परे, इक अन्य अद्भूत भाव है ।
वह है "सनातन भाव" जो, बस आखिरी ठहराव है ।
आनन्द से परिपूर्ण है, वह परमगति परमात्मना ।
सब भूत नाशै वह न नाशे, ताहि भज मोरे मना ॥४॥

वो ही "सनातन भाव" को "अव्यक्त" कह जाने कोई ।
कोइ कहे "अक्षर" उसे, है परमगति सबकी सोई ।
पाकर सनातन भाव को, होता नही पुनरागमन ।
वह परम धाम है पार्थ मेरा, पात मोरे भक्तजन ॥५॥

चौ० जेहि मे सर्वभूत, सुनु पार्थ जेहि से पूर्ण है सकल पदार्थ ।
यह सब जगत् तासु परिपूर्ण, परम पुरुष सब विधि सम्पूर्ण ।
होय अनन्य भक्त जो कोई, पावे, परम पुरुष को सोई ।
देह त्यागि करि जो नर जावे, आगे मार्ग कौन सो पावे ।
या मे पार्थ जानि द्वय भेदा, कहहूँ तोर हित भाषै वेदा ।
कोउ योगीजन अस गति पावे, पुनर्जन्म वो कबहुं न आवे ।
पर कोउ कोउ पुनि जीवन धारै, काल(मार्ग) विभाग बतावहुं प्यारे।

ज्योति मार्ग इक सुनो कुन्तिसुत, धूम मार्ग दुसर मोरे मत ।
ज्योति मार्ग से ब्रह्महि पावे, धूम मार्ग पुनि पुनि जन्मावे ।।४।।

दो० शुक्ल पक्ष अरु दिवस में, षट् उतरायण मास ।
देह त्यागि जन जो गये, पार्थ ब्रह्म सो पात ।।८।।
कृष्ण पक्ष अरु रात में, षट् दक्षिणायण मास ।
देह त्यागि योगी गये, चन्द्र ज्योति पुनि आत ।।९।।

चौ० मार्ग दोय इह जग मे शाश्वत, शुल्क कृष्ण पुनि नाम बतावत ।
शुक्ल मार्ग जे कीन प्रयाणा, पाइ परम गति पुनः न आना ।
कृष्ण मार्ग, जे जन, तन त्यागे, पुनर्जन्म पावे वह आगे ।
ए दोउ मार्ग तत्व सो जाने, योगी कबहुं मोह नहि आने ।
एहि कारण सुनु अर्जुन मीता, सब कालहिं भव योगहि युक्ता ।
योगिजन यह तत्वहि जाने, सदा रहे वे निरअभिमाने ।
वेद पढ़े तप यज्ञहि कीन्हे, पुण्य मिले दानादिक दीन्हे ।
ताहि सबहि लंघे योगीजन, योगी होय कर्म कर, अर्जुन ।
एहि विधि परम सनातन पद को, पाइ, योगी लंघे भवनद को ।

अध्याय आठ समाप्त

अध्याय नौ प्रारम्भ

दो० कहे कृष्ण अर्जुन सुनहु, तुम हो भक्त अदोष ।
गुह्य ज्ञान विज्ञानयुत, पुनः सुनो करि होश ॥१॥
जानि सोइ कुन्तीसुवन, पावे शान्ति अपार ।
मोक्ष मिले, डूबे नहीं, दुःख रूप संसार ॥२॥

चौ० यह समस्त विद्या का अधिपति, गोपनीय अधिपति सुनु कुरुपति ।
फल प्रत्यक्ष तासु सो होइ, है अति सुगम करे जो कोइ ।
अति पावन अति उत्तम ज्ञाना, अविनाशी पुनि वेद बखाना ।
यह जो धर्म बतावहुँ तो को, श्रृद्धा रहित भटके कुरु भूपा ।
मै अव्यक्त, अमूर्त भरतर्षभ, है परिपूर्ण मयि से सब जग ।
सर्व भूत मयि स्थित निरन्तर, पुनि मै रहूं नही ता अन्दर ।
पुनि सब भूत नहीं मुझ मांही, सदा असंग रहूं सुनु भाई ॥१॥

सो० योग शक्ति ईश्वरीय, ता प्रभाव देखो सरवे ।
धारण, पोषण कीय, लिप्त नहीं मम आत्मा ॥१॥
प्रकटावे सब जीव, पुनि धारण पालन करे ।
आत्मा मम रमणीय, भूतन में नांही रहे ॥२॥

चौ० पवन महान् सबही जग बहही, पर जेहि भाँति व्योम स्थित रहही ।
अस सब भूत स्थित मयि जानो, अस स्वरूप मेरो पहचानो ।
कल्पक्षये सब भूत कुन्तिसुत, पात मोर प्रकृति, जो अद्भुत ।
पुनि जब होव कल्प प्रारम्भा, रचहुं जगत् प्रकृति के संगा ।

मै निज प्रकृति पुनः स्वीकारू, रचहूं भूत गण बारंबारू ।
ए प्रकृति वश, अवश भूतगण, जन्मे मरे जगत में क्षण क्षण ।
रचना अरु विनाश कर्मो मे, उदासीनवत् सब धर्मो में ।
अनासक्त हुइ कर्म करूं मैं, कर्म न बंधे सत्य कहूं मैं ।
मयि प्रेरे प्रकृति गुण धारे, रचे चराचर जगत् पियारे ।
बस ऐहि हेतु जगत् सब होई, आवागमन चक्र है सोई ॥२॥

दो० भूत महेश्वर हौं सखे, मूढ़ न जाने सोइ ।
मनुष देह ''नर'' जानि के, तुच्छहिं जाने मोहि ॥३॥
राक्षस, असुर स्वभाव से, सदा मोह वश होइ ।
सोइ विधि अज्ञानी पुरूष, कस विधि पावे मोहि ॥४॥
कर्म वृथा आशा वृथा, वृथा ज्ञान ए धारि ।
असुर समानहि मोह वश, करे न कबहुं विचारि ॥५॥

चौ० दैवी प्रकृति अधीन महात्मन, जाने मोहि भूत परमात्मन ।
अव्यय जानि भजे मोहि अर्जुन, भाव अनन्य सदा ताके मन ।
दृढ़व्रत धारी मोर भक्त जन, सदा करे मोरो गुण कीर्तन ।
सदा यत्नरत नमनहिं मोही, नित्य युक्त भक्तिरत सोही ।
कोउ विराट् रूपहि मोहि पूजे, ज्ञानयज्ञ करि पूजे दूजे ।
कोउ स्वामी–सेवक करि भावा, अन्य करे कोउ अन्य उपावा ।
श्रोत, कर्म मै, स्वधा यज्ञ मै, औषध, मंत्र, अग्नि, घृत भी मै ।
हवन क्रिया मै, मै पितु माता, पितामहि मै, मै जगधाता ।
जानन योग्य पवित्र ओम् मै, साम, यजु, ऋग वेदहिं हूँ मै ।
मै सबकी गति, भर्ता, स्वामी, मैं साक्षी, निवास, अकामी ।
मै ही शरण, सदा उपकारी, मैं उत्पत्ति, प्रलय, आधारी ।
मै निधान, अव्यय, जग कारण, मै ही करू जगत् को धारण ॥३॥

दो० सूर्य रूप मैं ही तपूं, धारि जलद वर्षात् ।
मैं अमृत अरु सत असत, मृत्यु रूप मैं खात ॥६॥

चौ० जे सकाम कर्महि, मन देही, तीनो वेद बतावहिं जे ही ।
करहिं सोमरस को जे पाना, विगत पाप करे यज्ञ विधाना ।
करि ए सबहि स्वर्ग को चाहे, पुण्य फलहिं ते स्वर्गहि पावे ।
दिव्य देव भोगहि ए भोगे, इन्द्रलोक विशाल अवलोके ।
पुण्य क्षये पुनि भूतल आवे, काम–सकाम शरण दुःख पावे ।
ए सकाम कर्मी, कहे वेदा, पुनि–पुनि आवागमन लभेता ।
जो अनन्य जन चिन्तहि मोही, भजहिं मोहि निस्काम हुए ही ।
नित्य स्थित मयि मे जो रहही, योग क्षेम ता को हो वहही ॥४॥

सोरठा: पूजे अन्यहि देव, श्रद्धायुक्त जो भक्तजन ।
करे मोर ही सेव, पर अर्जुन अज्ञानवत् ॥३॥

चौ० सर्व यज्ञ भोक्ता मै, स्वामी, ए मोहि तत्व रूप नहि जानी ।
एहि कारण ते पुनि पुनि जन्मे, ए सकाम कर्मी सब भटके ।
देव पूजि देवन को पावे, पितर पूजि पितरहिं ढिग जावे ।
भूतहि पूजि भूत गति पावे, पुजि मोहि मेरो हुइ जावे ।
पत्र, पुष्प, फल, जल मयि देवे, प्रेम पूर्ण अर्पण कर सेवे ।
भक्ति युक्त अर्पे निस्कामी, वो मै ग्रहण करूं कुरुस्वामी ।
जो तूं कर्म करे अरु खावे, दान देत अरु हवन करावे ।
जो तूं करे तपस्या अर्जुन, करो सदा मेरे ही अर्पण ॥५॥

दो० कर्मबंध, शुभ अशुभ फल, एहि विधि मोक्ष मिलेहिं ।
हुइ संन्यासहि योगयुत, मुक्त होइ मोहि पेहि ॥७॥

न मेरे अप्रिय कोइ, न मेरे प्रिय कोय ।
सर्वभूत समभाव से, रहूं व्यापत् में होय ॥८॥

चौ० जे मोहि भजे भक्त हुइ मोरा, वो मुझ में अरु मे तिन ठोरा ।
होइ दुराचारी यदि कोई, भाव अनन्य भजे करि मोहि ।
है वह 'साधु', सुनत मत मोरा, वह यथार्थ निश्चय सब ओरा ।
वह शीघ्रही धर्मात्मा होई, पावे शान्ति सदा सुख सोई ।
हे अर्जुन यह सत्य जानले, मेरा भक्त न क्षये मानले ।
स्त्री, वैश्य, शूद्र जो होई, पाप योनि गत जो हो कोई ।
वे सब शरण मोर जब आवे, परम गति अर्जुन वो पावे ॥६॥

दो० पुनि क्या कहूं धनंजय, ब्राह्मण अरु पुण्यवान ।
राज ऋषि अरु भक्तजन, "परम" पात दृढ़ जान ॥९॥
अतः अनित्य है देह यह, अरु सुख रहित सुजान ।
पाइ सोइ मम भजन कर, मोर कहयो अब मान ॥१०॥
मन से अब मेरे बनो, भक्ति करो अब मोर ।
मेरो ही पूजन करो, मैं ही हूं सब ओर ॥११॥
नमस्कार करि मोहि अब, शरण मोर गति लेव ।
आत्मा मुझ में युक्त कर, पायेगा मोहि एव (ही) ॥१२॥

अध्याय नौ समाप्त

अध्याय दस प्रारम्भ

चौ० वचन परम सुनु अर्जुन मीता, सो मै कहुँ तोर हित चीता ।
महाबाहो तुम मम प्रिय अतिशय, सुनो वचन मोरे हुइ निर्भय ।
मैं जेहि विधि जग प्रकटहि होऊ, सुर ऋषि गण नहिं जाने कोऊ।
तासु आदि कारण मोहि जानो, देवऋर्षिहिं सब मो सो मानो ।
जो मोहि अजम अनादि माने, जगत् महेश्वर तत्वहि जाने ।
ए नर ज्ञानवान कहलावे, सर्व पाप सो मुक्ति पावे ।
बुद्धि, ज्ञान, क्षमा, सत, सुखम्, असम्मोह, शम., दम, दु.खम् ।
उत्पत्ति, प्रलय, अभय, भय, दानम्, समता तोष अहिंसा ध्यानम् ।
तप, यश, अयशअन्य बहु भावा, भूतन माहि मोर सोहिं आवा ॥१॥

दो० सप्त महर्षि पार्थ सुन, पूर्व चार सनकादि ।
चौदह मनु ऐते सभी, भाव मोर में राखि ॥१॥
मोरे ही संकल्प से, उत्पत्ति सबकी जान ।
जाकि जग में यह प्रजा, आगे सुनु करि ध्यान ॥२॥

चौ० योगशक्ति अरु मोर विभूति, तत्व रूप जो जाने व्यक्ति ।
निश्चल योग स्थित वह होई, संशय यंहा करे ना कोई ।
सब उत्पन्न मोर से होई, क्रिया कलाप जगत् मम सो ही ।
ऐसी मानि श्रद्धा से युक्ता, भजे मोहि सद्बुद्धि भक्ता ।
मेरे भक्त चित मयि राखे, प्राण सदा मुझमे ही वा के ।
वे नित मेरे ही गुण गावे, मुझ मे रमण करे सुख पावे ।
सतत ध्यान में रहे हमारे, प्रेम सहित करि भजन सुखारे ।
बुद्धि योग मै ताको देऊं, पुनि ताको मेरे ढिग लेऊ ।

ता हित ताके हृदय विराजू, भक्त हिताय करूं सब काजू ।
तम अज्ञान नाश करि लेऊं, ज्ञान दीप ज्योति भरि देऊं ॥२॥

दो० अर्जुन कहे परब्रह्म तुम, परमधाम भी आप ।
परम पवित्र पुमान तुम, ऋषिगण करते जाप ॥३॥
देवऋषि नारद, असित, देवल, व्यास, भवान ।(आप)
दिव्य सनातन् पुरूष कह, आदि देव तोहि जान ॥४॥
सर्वव्यापि तुम अजम हो, यह भाषत ऋषि लोग ।
आप स्वयं मो यह कहे, जाने जानन जोग ॥५॥
जो कछु केशव तुम कहो, मो सम्मुख उपदेश ।
मैं मानू सो सत्य सब, तुम हो जगत् महेश ॥६॥
हरि तोरे व्यक्तित्व को, नहि जाने कोउ देव ।
ना ही जाने असुर कोइ, "शंकर" मति अदि हेव ॥७॥(तुच्छ)

चौ० देवदेव भूतेश जगतपति, पुरूषोत्तम भूतहि के उत्पत्ति ।
आप स्वय जानो अपने से, अन्य कोउ जाने जपने से ।
अपनी दिव्य विभूति भगवन, सक्षम आप करो जो वर्णन ।
जा विभूति बल जगत् व्याप्त है, धारि ताहि हरि स्वयं स्थित है ।
मै केहि भाति करूं नित चिन्तन, जानूं केहि विधि तोहे भगवन ।
चिन्तन किनकिन भावहि करहूँ, करि चिंतन भव नद कस तरि हूँ ।
योगशक्ति अरु तोर विभूति, करि विस्तार कहो अब जगपति ।
अमृत वचन आपके सुनिसुनि, होत न तृप्ति मोर मन भगवनि ।

दो० कहे कृष्ण कुरूश्रेष्ठ अब, सुनहु विभूति मोर ।
तोरे हित सबहीं कहूं, मैं व्यापूं सब ओर ॥८॥
मोरे इस विस्तार का, अन्त नहीं कुरूकन्त ।
मैं भूतन की आतमा, आदि मध्य अरु अन्त ॥९॥

चौ० मैं अदीतिसुत विष्णु अर्जुन, ज्योतिपुंज धारी रवि त्रिभुवन ।
मरुतानाम मरीची मै हूँ, नखत राज शशि अर्जुन मै हूँ ।
वेदो मे मैं सामवेद हूँ, देवो में मै इन्द्र देव हूँ ।
इन्द्रिय मे मन मोहे जानो, चेतन शक्ति प्राण मोहि मानो ।
रूद्रों मे शंकर प्रलयंकर, यक्षो मे कुबेर धन को घर ।
वसुओं में अग्नि मयि नामा, पर्वत मे सुमेरू सुख धामा ।
पुरोहितो में मुख्य बृहस्पति, मै ही हूँ समझो हे कुरुपति ।
सेनापति स्कन्ध मयि नामा, जलशयो मे सागर श्यामा ॥४॥

दो० महर्षियों में भृगु मैं, वाणी में ओंकार ।
यज्ञों में जप यज्ञ मैं, जपि जपि उतरो पार ॥१०॥
जग में जेते स्थावर, ता मे मैं हिमवान ।
वृक्षो में अस्वत्थ (पीपल) मैं, सिद्ध कपिल मोहि जान ॥११॥

चौ० देवऋषिन में नारद मै हूं, चित्ररथः गन्धर्व ही मै हूं ।
उच्चैश्रवा अश्व मोहि जानो, अमृत–मथन प्रकट बखान्यो ।
गज मे ऐरावत मयि नामा, नराणाम नरपति मम नामा ।
आयुध मे मैं वज्र कहाऊं, कामधेनु धेनु कहलाऊं ।
उत्पत्ति मे रतिपति मयि माना, सर्पो मे वासुकी सुजाना ।
शेषनाग नागों मे होऊं, वरूण नाम जलचर हित होऊं ।
पितरो में अर्यमा कहाऊं, यम धरि नाम संयम्य कहाऊं ।
दैत्यो में प्रहलाद भक्त हूँ, काल नाम धरि गणनारत हूँ ॥५॥

दो० वैनतेय मैं खगन में, पशुवन में मृगराज ।
पवन नाम पावन करूं, शस्त्रधता रघुराज (राम) ॥१२॥

जलचर में मैं मकर हूँ, गंगा सरिता नाम ।
आदि मध्य अरू अंत में, सर्गों का सुख धाम ॥१३॥
विद्याओं में पार्थ सुन, मैं विद्या अध्यात्म ।
जो विवादरत परस्पर, वाद नाम हूँ आत्म (मैं) ॥१४॥

चौ० अक्षर मे अकार मयि जानो, द्वन्द्व समास समास बखानो ।
मै कालो मे अक्षय काला, रूप विराट करूं प्रतिपाला ।
मृत्यु बन सबको मे हरता, मै भविष्य मे उत्पति करता ।
नारी नाम कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति मेधा, धृति बखाणी ।
सप्तम क्षमा नाम मोहि जानो, ऐते सब मेरे गुण मानो ।
वृहत् साम गायन मै 'शंकर', गायत्री का छन्द मनोहर ।
मासन मे मृगसिर मै मासा, ऋतुवन मे वसन्त सुखवासा ।
द्यूत नाम छलने वालो मे, तेज नाम प्रभाव वालो में ।
जो जीते मै विजय वहा हूँ, व्यवसायिन व्यवसाय जहाँ हूँ ॥६॥

दो० सत्व वत्तम् मे सत्व मैं, वृष्णिवंश वासुदेव ।
पाण्डव में मैं धनंजय, मुनियन में व्यासदेव ॥१५॥
कवियन में मैं शुक्र कवि, दमन करन में दण्ड ।
विजय पिपासुन नीति में, ज्ञानी ज्ञान अखण्ड ॥१६॥

चौ० गोपनीय भावन मे मौनम्, सर्वभूत उत्पति मे बीजम् ।
चर अरु अचर नांहि अस कोई, मो बिन जगत् मांहि जो होई ।
मोर विभूतिन को नहि पारा, यह संक्षेप है पृथाकुमारा ।
जो जो जग विभूतिमय दीखे, शक्तियुक्त अरु कांतिहि नीके ।

सो सो मम तेजह प्रकटावे, अधिक और का जानन चाहे ।
पूर्ण जगत् धारूं थिर रहहूं, योग शक्ति इक अंशहि कहहूं ।

अध्याय दस समाप्त

अध्याय ग्यारह प्रारम्भ

दो० पार्थ कहे हरि आपने, कृपा मोह पेहि कीन ।
परम गुह्य आध्यात्म के, वचन मोर हित दीन ॥१॥
सोइ ज्ञान अध्यात्म को, पाइ नष्ट अज्ञान ।
मोह नस्यो सुनि वचन तव, कृपा करी भगवान ॥२॥

चौ० उत्पत्ति और प्रलय भूतन को, अविनाशी प्रभाव भगवन को ।
करि विस्तार सुना प्रभु तो सो, कमल नयन मति मन्द न मो सों।
हे हरि आप कहो जस तो को, हो ऐसे ही लागे मो को ।
देखन चहूं रूप ऐश्वर्यम्, कृपा करो मोपर पुरुषोतम ।
प्रभो आप यदि उचित जानलें, देख सकूं इस योग्य मानले ।
तो योगेश्वर कृपा करावो, अविनाशी स्वरूप दिखलओ ।
अर्जुन से बोले भगवाना, देखहु शत, सहस्त्र विधि नाना ।
नाना वर्ण और आकृति, रूप अलौकिक देखो कुरुपति ॥९॥

छन्द: केशव कहे भारत तुम्हारे हेतु सब दिखलाव हूँ ।
मुझमे सभी आदित्य, वसु अरु मरुत की छवि पावहू ।
सर्वानि रुद्र कुमार अश्विनि, जो न देखे वे सभी ।
आश्चर्य से परिपूर्ण मेरे रूप की देखो छवी ॥१॥
देह के इक भाग में, चर अचर जग तूं देखले ।
हे गुड़ाकेश तूं पूर्ण जग को, देह मयि मे देखले ।
जो और कछु भी देखना चाहे, वही सब पायेगा ।
प्राकृत तुम्हारे चक्षुओ मे, दृष्टि कछु नही आयेगा ॥२॥
इस ही लिये मै आज तुमको दिव्य दृष्टि दे रहा ।
मम योग–शक्ति और मम ऐश्वर्य जो मैने कहा ।
दिखलावहूं तो को सभी, धरि धैर्य सब देखो सखे ।
मति मंद "शंकर" को भी, देवो दृष्टि, वो भी देखले ॥३॥

दो॰ संजय कह तव अस कही, पार्थ हेतु हे भूप ।
महायोगेश्वर हरी, प्रकटायो निज रूप ॥३॥

चौ॰ दिव्य स्वरूप परम ऐश्वर्यम्, पार्थ हेतु प्रकटायो रूपम् ।
मुख अनेक बहु नेत्र विशाला, बहुविधि अद्भुत दर्शनवाला ।
भाँति अनेक दिव्य आभूषण, आयुध दिव्य हस्त करि धारण ।
दिव्य वस्त्र अरु दिव्य ही माला, दिव्य गंध अनुलेपन वाला ।
अति अद्भुत सीमा नहि पारा, रूप विराट् बुद्धि से न्यारा ।
सहससहस रवि उदित आकाशा, होवहि तासो जगहि प्रकाशा ।
हरिहि विराट् स्वरूपहि आगे, वह प्रकाश अति मन्दहि लागे ।
पाण्डु पुत्र अर्जुन तेहि काला, पृथक पृथक सब जगत् विशाला ।
देखा हरि तन मे इक ठोरा, आश्चर्य चकित होइ, कर जोरा ।
हुआ रोमहर्षित तब अर्जुन, किया नमन सिर से अरिमर्दन ।
करि प्रणाम बोला कर जोरी, अस्तुति करहुं कृष्ण कस तोरी ॥२॥

दो॰ देव आपकी देह में, सकल देव का वास ।
सकल भूत समुदाय तहं, ब्रह्मा कमल सुवास ॥४॥
दिव्य उरग (सर्प) ऋषिगण सवहि "शंकर" शंकरदेव ।
देखि सकल ब्रह्माण्ड को, नमन करूं तोहि देव ॥५॥

चौ॰ है अनेक मुख नेत्र अनेका, भुज अनेक तोरे मै देखा ।
उदर अनेक रूप नहिं पारा, विश्व रूप विस्तार अपारा ।
ना कोउ आदि, न मध्य, न अंता, विश्वेश्वर प्रणमहुँ भगवन्ता ।
मस्तक मुकुट, गदा कर धारी, चक्रपाणि प्रकाश द्युति न्यारी ।
तेजपुञ्ज रवि, अग्नि समाना, अप्रमेय रूपम भगवाना ।
देखन में अति गहन गंभीरा, अंतहीन हरि तोर शरीरा ।
जानन योग्य आप ही जग में, है अनन्त जग हरि रगरग मे ।

आप जगत मे परम विधानम्, अक्षय, अव्यय, पुरुष पुरानम् ।
आप अनादि धर्म रखवारे, आप सनातन पुरूष पियारे ॥३॥

दो॰ मोरे मत अर्जुन कहे, पुरूष सनातन आप ।
शरण आपकी होत ही, मिटे जगत् संताप ॥६॥

चौ॰ है अनन्त सामर्थ्य तुम्हारे, बाहु अनन्त, अनन्त विस्तारे ।
आदि, मध्य अरु अन्त न कोई, देखूं नेत्र सूर्य शशि होई ।
प्रज्वलित अग्निरूप मुख दीखे, तपे जगत् तव तेजहिं तीखे ।
स्वर्ग, पृथ्वी अरु यह आकाशा, महाप्रभु सब दिशि चहुं पासा ।
है परिपूर्ण आप से भगवन, रूप अलौकिक उग्रम श्रीमन् ।
देखि लोकत्रय व्यथित घनेरे, करो दया ता पर प्रभु मेरे ।
देखूं देव समूह सकल ही, करे प्रवेश आपके तन ही ।
कोउकोउ होइ विकल कर जोरे, पढ़े पवित्र नाम गुण तोरे ।
महर्षि सिद्ध स्वस्ति करि वाचन, उत्तम स्तुति करहिं तव भगवन ।
रुद्र, आदित्य, वसु साधूजन, विश्वेदेव, समस्त मरुद्गण ।
अश्विनि द्वौ, सब पितर समाजा, यक्ष, सिद्ध अरु राक्षस राजा ।
पुनि गन्धर्व सर्व ए मोहे, विस्मित हुइ देखे प्रभु तोहे ॥४॥

छन्द: देखि बहुमुख, नेत्र बहु, बहु बाहु, जंघाए बहु ।
बहु पद कमल, बहु उदर, बहु विकराल दंत भयावहु ॥
एहि भांति महत् स्वरूप लखि, सब लोक व्याकुल हो रहे ।
मै भी हूँ अति व्याकुल, मुरारी से प्रथासुत यों कहे ॥४॥
आकाश को छूता हुआ तव देह विष्णो है महा ।
देदिप्यमान प्रभा प्रभो, बहु रूप की शोभा यहां ॥
मुख को महा विस्तार, नेत्र विशाल दहकी आग ज्यो ।
मै देखकर भयभीत हूँ, इस रूप को, सांची कहो ॥५॥

दो० पार्थ कहे विष्णो सुनो, अन्तःमन भय मोर ।
धैर्य, शान्ति कैसे मिले, समझावो चितचोर ॥७॥
प्रलय काल की अग्नि सम, दीखे मुख देवेश ।
दन्त महा विकराल लखि, दिशा ज्ञान नहिं शेष ॥८॥

चौ० देखि रूप तव जगन्निवासा, अति भय होत सुख भये नाशा ।
होउ प्रसन्न विष्णों जग स्वामी, करहू कृपा अब अंतर्यामी ।
धृतराष्ट्रही सुत भूप समाजा, करहिं प्रवेष तोर मुख जा जा ।
भीष्म, द्रोण अरु सूतसुवन भी, निज सेनहि भट अरु प्रधान भी ।
देखूं वेग युक्त तेहि धावत, करहिं प्रवेश मुखहिं तव जावत ।
दन्त कराल भयानक मुख तव, दशन मध्य लटकत विदीर्ण शव ।
सरिता जल प्रवाह चहुं ओरा, जलनिधि अभिमुख जसविधि दौरा।
सोइ विधि शूरवीर नर दोड़े, करहीं प्रवेश अग्नि मुख तोरे ॥५॥

दो० जिमि पतंग निज नाश हित, ज्वाला करहि प्रवेश ।
धाय धाय सर्वे जना, तव मुख होवहिं शेष ॥९॥
ज्वाला मुख से जगत् सब, लील रहे हरि आप ।
सर्व जगत् व्याकुल करे, विष्णों तव मुख ताप ॥१०॥

चौ० पार्थ कहे प्रणमहु प्रभु तो हे, उग्र रूप को है कहु मोहे ।
होउ प्रसन्न आदि भगवन्ता, आनन चहुं तोहे जगहंता ।
ना जानूं प्रकृति प्रभु तोरी, पार्थ कहे मोरी मति थोरी ।
कृष्ण कहे सुनु कुन्तीनन्दा, महाकाल मैं हूं जगहन्ता ।
हुआ प्रवृत्त जगत क्षय कारण, मोर प्रेरणा से है यह रण ।
जो प्रतिपक्ष स्थित योद्धागण, काल ग्रसित होगे समरांगण ।
तोर विना भी ये न रहेगे, अन्य जना तोहे भीरु कहेगे ।
सव्यसाची उठु यश करू लाभा, अरिदल जीतहु भोगहु राजा ॥६॥

दो० अरिदल जीतहु धनंजय, भोगहु राज्य समृद्ध ।
उठहु धरहु धनु बाण कर, करहु कार्य को सिद्ध ॥११॥
मेरे द्वारा ये सभी, मरे हुए ही जान ।
तूं तो केवल निमित है, तजहु ताप अज्ञान ॥१२॥

चौ० द्रोण, भीष्म, जयद्रथ बहुअन्या, मारि ताहि जीवन करि धन्या ।
शूरवीर योद्धा राधासुत, हते हुए मयि से कुन्तीसुत ।
त्यागि व्यथा, हत पूर्वहिहन्ता, रण में विजय होइ कुरुकन्ता ।
करहु युद्ध होवहु रण विजयी, संजय पुनि भूपति से कहही ।
सुनि केशव के वचन किरीटी, जोड़ि पाणि कम्पित भयभीती ।
करि प्रणाम पुनि कीन्ह प्रणामा, गद्‌गद् वचन पार्थ कहे श्यामा ।
जो जाने तव नाम प्रभावू, सुमिरि सुमिरि हर्षित हुइ जाहू ।
पुनि अनुराग पात प्रभु तोरा, हे हरि आप योग्य सब ओरा ॥७॥

दो० देखहुं राक्षस लोग सब, भाग रहे भयभीत ।
नमस्कार करि सिद्धगण, गावे तोरे गीत ॥१३॥
कस न नमन तोहे करे, ब्रह्मा के करतार ।
आप बड़े, सबसे बड़े, "शंकर" तुच्छ गंवार ॥१४॥

चौ० हे देवेश, हे जगन्निवासा, हे अनन्त अब मम भ्रम नाशा ।
सत अरु असत परम जो होइ, अक्षर ब्रह्म आप है सोई ।
आदि देव तुम पुरुष पुराणम्, आप जगत के परम निधानम् ।
आप सृष्टि के जानन हारे, जानन योग्य आप प्रभु प्यारे ।
है परिपूर्ण जगत प्रभु तो सो, परम धाम तुम पूर्ण भरोसो ।
वायु, अग्नि, यमराज आप है, वरूण, चन्द्र, ब्रह्मा भी आप है ।
पिता पितामह के पुनि आपा, सहस बार प्रणमहु, हरु पापा ।
करहुं प्रणाम बहोरि बहोरि, पुनि पुनि नमहुं पुनः कर जोरी ॥८॥

दो० हे अनन्त सामर्थ्य धर, नमन करूं सब ओर ।
अग्र, पृष्ठ चहुं ओर से, प्रणमूं नन्दकिशोर ॥१५॥
अमित पराक्रम आप को, जगत् आप से व्याप्त ।
सर्व रूप हरि आप है, "शंकर" शीश नवात ॥१६॥

चौ० नहि जाना प्रभाव प्रभु तोरा, प्रेम प्रमाद बसहिं मन मोरा ।
सखा मानि कहि सखा बुलावा, कबहु कृष्ण यादव बतलावा ।
एहिविधि हठहि चूक हुइ मो सो, क्षमहुं नाथ विनती करूं तो सों।
खेलहिंखेल उठनबैठन मे, भोजन मे अरु मित्र मिलन मे ।
कबहुं आप एकान्त अकेले, कीन्ह हंसी अरु कीन्ह झमेले ।
हे अचिन्त्य हे अन्तरयामी, करहु क्षमा यदुपति जग स्वामी ।
पिता चराचर जग के तुम हो, गुरु से बड़े पुज्य गुरु तुम हो ।
है अतिशय प्रभाव प्रभु तोरा, तो सम नांहि अन्य, मत मोरा ॥९॥

दो० तो सम दूसर नांहि प्रभु, कस होवहिं अधिकाइ ।
"शंकर" सम ना अधम कोउ, लीजे नाथ उठाइ ॥१७॥

चौ० निज काया प्रणिधाय प्रणामूं, वन्दनीय प्रभु वन्दहुं श्यामूं ।
होउ प्रसन्न, करहुं आराधन, मेटहु ताप मोर, भय भंजन ।
क्षमहु देव अपराधहि ऐसे, क्षमहिं पुत्र को पितुजन जैसे ।
सखा सखा सो कबहुं न रूठे, पति प्रिय नारि बंध नहि छूटे ।
सोइ विधि सहहू मोर अपराधू, आप योग्य योगेश्वर साधू ।
पूर्व मांहि अस रूप न देखा, देखि सोइ मोहि हर्ष विशेषा ।
पर प्रभु मन मे भय अति लागे, कैसे कहूं श्याम तव आगे ।
हे देवेश, हे जगन्निवासा, होउ प्रसन्न मोर भ्रम नाशा ।
पुन: रूप वो ही धारण कीजे, अभय दान अर्जुन को दीजे ॥१०॥

दो० शीश मुकुट, कर चक्रगद, सोइ रूप पुनि होउ ।
देखन चहुं सोइ रूप प्रभु, नमहुं जोरि कर दोउ ॥१८॥
विश्व रूप हे सहसभुज, त्यागहु रूप विराट् ।
धरहु चतुर्भुज रूप पुनि, "शंकर" शीश नवात ॥१९॥

चौ० कृष्ण कहे सुनु अर्जुन भ्राता, तेजोमय मयि रूप विराटा ।
होइ प्रसन्न दिखावा तोही, योगशक्ति आधीन मयि सोई ।
परम तेजमय आदि अनन्तम्, देख न सके अन्य सोइ रूपम् ।
सोइ रूप मै तोहि दिखावा, पूर्व मांहि कोउ देख न पावा ।
वेद पढ़े कोउ यज्ञ करावे, उग्र तपस्या रत होइ जावे ।
देत दान कोउ ध्यान धरावा, अन्य करे कोउ अन्य उपावा ।
मोरी कृपा बिना कुरुभूपा, देख सके ना ये यह रूपा ।
कुरुप्रवीर नरलोकहिं मांही, देख सके तूं, अन्ये नांही ॥११॥

दो० तजहु तात मन की व्याथा, तजहू मूढ़ता भाव ।
त्यागहुं भय इस रूप को, जो अति घोर स्वभाव ॥२०॥
पुनः रूप सोइ देखहू, मन प्रसन्न पुनि होउ ।
अस कहि हरि ने पार्थ को, रूप दिखायो सोउ ॥२१॥

चौ० संजय कह सुनु भूपति बाता, लोप कियो हरि रूप विराटा ।
पुनः रूप नर देह दिखावा, सौम्य गात हुइ धैर्य बंधावा ।
देखि सौम्य नर देह तुम्हारे, पार्थ कहे चित शान्त हमारे ।
हे जगतात हुआ भय मोचन, हुआ होश अब पंकज लोचन ।
अर्जुन से पुनि कहे मुरारी, रूप मोर यह दुर्लभ भारी ।
जो देखा तुमने भलभांती, देखन चहे देव सुनु सांची ।
ना तप से ना दानहि दीन्हे, वेद पढ़े ना यज्ञहि कीन्हें ।
रूप मोर यह सके न देखी, देखा तुम जेहि भांति विशेषी ॥१२॥

दो० जो अनन्य भक्ति करे, सके देख एहि भांति ।
हे अर्जुन सोइ तत्व से, जानि सके भल भाँति ॥२२॥
सुनहु परंतप भक्ति से, प्राप्त होत नर मोहि ।
कर्म करे मेरे लिए, प्रिय लागे मम सोहि ॥२३॥
पाण्डव जो हैं भक्त मम, रहत परायण मोर ।
बिनु प्रयास पावे मुझे, मैं व्यापू चहूं ठोर ॥२४॥
अनासक्त निर्वैर जो, सर्वभूत, सब ओर ।
"शंकर" पावे मोर पद, बंधे भक्ति की डोर ॥२५॥

अध्याय ग्यारह समाप्त

अध्याय बारह प्रारम्भ

दो० एक सतत् तव भजन में, सगुण रूप धरि ध्यान ।
निराकार अक्षर भजे, अन्ये ब्रह्महिं ध्यान ॥१॥
करहुं अनुग्रह पार्थ पर, हे हरि विश्व स्वरूप ।
योगवित्त को इनन में, समझावो जग भूप ॥२॥

चौ० कृष्ण कहे सुनु कुन्तीनन्दन, करि एकाग्र मयि मे निज मन ।
पुनि श्रद्धा अतिशय मन धारे, सगुण रूप को भजे हमारे ।
भजन, ध्यान रत निज मन जाके, वो मोहि उत्तम योगी लागे ।
जो योगी सम बुद्धि राखे, सर्व भूत हित रत मन जाके ।
जे वश करि इन्द्रिय समुदाया, अकथनीय ध्रुव ब्रह्म बताया ।
सर्व व्यापि, कूटस्थ, अचिन्त्यम्, अचलम्, अक्षर अरु अव्यक्तम ।
ऐसो जानि उपासे जो ही, वो भी पात पृथा सुत मो ही ॥१॥

दो० निराकार के ध्यान में, क्लेश अधिक सुनु मीत ।
बहुत कठिनता से बंधे, निराकार सो प्रीत ॥३॥
देह बंधी ये आत्मा, ना छूटे अभिमान ।
तेहि कारण अति कठिन है, समदर्शी को ज्ञान ॥४॥

चौ० पर जो कर्म करे मयि अर्पण, सगुण रूप से होत परायण ।
ध्यान योग अनन्य करि ध्यावे, भजन मोर मे वृत्ति लगावे ।
हे अर्जुन मै ताहि उद्धारूं, मृत्यु, जगतसागर करूं पारू ।
तूं मन, बुद्धि मोर कर ध्याना, मो करि वास न संशय आना ।
जो करि सके न चित थिर मयि मे, तो अभ्यासयोग करू, कहि मै।
कर न सके यदि तूं अभ्यासा, करहु कर्म, मम हित, तजि आशा।
मेरे अर्थ, कर्मरत हो ही, सिद्धि पाइ पुनि पावहि मोही ॥२॥

दो० कर न सके एहि भांति यदि, हे जितमन करुकेतु ।
तजहु सर्व कर्महिं फलहिं, पृथा पुत्र मम हेतु ॥५॥
शरण मोर आवहुं सखे, चित करि ध्यान हमार ।
निश्चय पावहुं मोर पद, वृथा न वचन कुमार ॥६॥

छन्द: अभ्यास से है ज्ञान उत्तम, वेद श्रुति सब गावही ।
है ध्यान उत्तम ज्ञान से, पुनि ज्ञानिजन बतलावहीं ।
सब कर्मफल को त्याग, उत्तम ध्यान से मुनिजन कहे ।
दृढ सत्य है यह, त्याग से, तत्काल नर शान्ति लभे ॥१॥

चौ० जो पावे (शान्ति) वह हुआ सुखारी, सर्वभूत हित करूणाकारी ।
द्वेश और ममता नहि वाके, सुःख दुःख सब सम करि राखे ।
क्षमावान अरु मित्र सभी के, है संतुष्ट सतत् योगी से ।
मन, इन्द्रिय अरु तन वश जाके, निश्चय, सदा अटलकरि राखे ।
मन, बुद्धि मयि अर्पित राखे, ए मम भक्त मोहि प्रिय लागे ।
जो सो लोक दुःखी नहि होवे, स्वयं लोक से दुख नहि कोवे। (कोई भी)
भय, अमर्ष अरु हर्ष रहित जो, उद्वेगादि त्यागि, मन जित जो ।
भक्त सोइ, मोहि प्रिय अति लागे, अर्जुन सुनहुं कहुं सो आगे ॥३॥

दो० जा के नहिं आकांक्षा, उदासीन, शुचि, दक्ष ।
जा के दुःख निवृत है, नाहि पक्ष प्रतिपक्ष ॥७॥
त्यागि दिये आरम्भ सब, सोइ भक्त मम होत ।
वह लागे प्रिय मोहिं अति, निशि को ज्यों शशिजोत ॥८॥

चौ० पुनि आगे सुनु पृथा कुमारा, शुभ अरु अशुभ त्यागि करि डारा ।
ना हर्षे, नहि द्वेष, न शोचू, भक्त मोहि प्रिय, भय सब मोचू ।
जाके मन आसक्ति न होई, शत्रु मित्र दोनो सम सोई ।

शीत उष्ण अपमानहि, माना, सुःख दुःख सब एक समाना ।
तुल्य स्तुति, निन्दा करि राखे, सब विधि संतोषी चुप साधे ।
हुइ अनिकेत स्थिर मति धारे, भक्तिमान नर प्रिय मोहि प्यारे ।।४।।

दो० जो कछु मैंने यह कहा, धर्मामृत उपदेश ।
श्रद्धायुक्त हुइ मत्परः, सेवहि यह संदेश ।।९।।
भक्त मोहि वह अधिक प्रिय, मानो बात प्रमाण ।
अधिक कहुं क्या पार्थ तोहि, भक्त है मोर समान ।।१०।।

अध्याय बारह समाप्त

अध्याय तेरह प्रारम्भ

दो० कृष्ण कहे सुनु कुन्तिसुन, सुधिजन के मत मांहि ।
देह हमारो क्षेत्र है, ऐसा सब समुझांहि ॥१॥
जो जाने इस क्षेत्र को, कहलावे क्षेत्रज्ञ ।
तत्वज्ञान ज्ञानी लभे, "शंकर" मति को अज्ञ ॥२॥

चौ० हे भारत सब क्षेत्रहिं मांही, मैं क्षेत्रज्ञ समुझि अस भाई ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जो जाने, ज्ञान वही मत मोर प्रमाणे ।
जैसा है जो है वह क्षेत्रम्, केहि कारण है, कौन विकारम् ।
तथा कहा प्रभाव क्षेत्रज्ञम्, करि सक्षेप कहूँ सुनु ध्यानम् ।
यह सब ऋषिगण बहुविधि, गाये, छन्द गाइ बहु विधि समुझाए ।
ब्रह्मसूत्र पद सोइ समुझावा, युक्तियुक्त निश्चय करि गावा ।
क्षेत्र कहा सो तोहि समुझाऊं, इनके मे सब भेद बताऊं ।
पचभूत, बुद्धि, अव्यक्तम्, अहंकार दस इन्द्रिय सहितम् ।
मन अरु इन्द्रिय विषय समेता, इच्छा, द्वेष सुख दु:ख जेता ।
देह, पिण्ड, धृति अरु चेतनता, ए सब क्षेत्र विकार समेता ॥१॥

दो० ज्ञान और अज्ञान क्या, आगे सुनु करि ध्यान ।
गुरुसेवी दम्भी नही, ज्ञानी निराभिमान ॥३॥
अन्त:करण स्थिर सदा, मन-वाणी को साफ ।
निर्मल, क्षमी, अहिंसक, आत्म विनिग्रह आप ॥४॥

चौ० इन्द्रिय भोग मांहि वैरागी, निज उत्तमता ना अनुरागी ।
जन्म, मृत्यु, दु:ख दूषन व्याधि, करे विचार सतत् सब भांति ।
पुत्र, नारि, गृह मे नहिं मोहा, ममता रहित नही कोउ द्रोहा ।
प्रिय अप्रिय में एक समाना, भाव अनन्य योग मयि आना ।
देश शुद्ध एकान्त निवासी, जनसंसदि मे अरति उदासी ।

अव्यभिचारिणी भक्ति रत जो, नित्य ज्ञान अध्यातमहि रत वो ।
तत्व ज्ञान दर्शी सर्वग्यम्, यह सब ज्ञान, एहि मम भक्तम् ।
जो कुछ कह्यो तेहि विपरीता, है अज्ञान सुनहु मम मीता ॥२॥

सोरठा. जो जानन के जोग, जानि ताहि अमृत लभै ।
काटै वह भव रोग, सोहि अनादि कहूँ सुनो ॥१॥

दो० वह अनादि सत ब्रह्म है, ना वह सत आबद्ध ।
और असत भी वह नहीं, समझे सो हो सिद्ध ॥५॥

चौ० वह अनादि बहुपाणी पादम्, सब दिशि नेत्र, शीश मुख श्रोतम् ।
क्योंकि वह जग सर्वम धारे, व्याप्त सर्वदिशि बैठत प्यारे ।
विषय इन्द्रियों के सब जाने, फिर भी इन्द्रिय रहित बखाने ।
गुण अतीत आसक्ति हीना, धारत, पोषत सब गुण भीना ।
सर्व भूत के बाहर भीतर, चर भी अचर वही है "शंकर" ।
वह अति सूक्ष्म न जानन आवे, अति समीप, अति दूर कहावे ।
वह परब्रह्म एक, चहुं पाशा, पृथक पृथक सब भूत निवासा ।
जानन योग्य सोहे होई विष्णु, धारत पोषत बहुत सहिष्णु ।
ब्रह्मा रूप बनावनहारा, रूद्र रूप हुई करत संहारा ॥३॥

दो० ज्योतिन की भी ज्योति यह, तम भी परम कहात ।
ज्ञान वही, क्षेत्रम वही, ज्ञान गम्य सब भांत ॥६॥
वही ब्रह्म सुनु मम सखे, सबके हृदय निवास ।
जानि ताहि भव सों तरे, होत अविद्या नाश ॥७॥

चौ० एहि विधि यह सब तोहि समुझावा, क्षेत्र है क्या, भल भांति बतावा।
पुनि क्या ज्ञान और क्षेत्रम्, करि संक्षेप कहा मै सर्वम् ।
ए सब जानि भक्त मम केरे, पात स्वरूप मोर मत मेरे ।
प्रकृति और पुरूष ए दोनो, है अनादि नहि जाने कौनो ।

प्रकृति गुण, विकार उपजावे, गुणिजन यह भल भांति बतावे ।
कार्य और कारण मे हेतु, केवल प्रकृति सुनहुं कपि केतू ।
सुःख, दुःख जीवात्मा भोगे, एहि कारण यह हेतू लोके ।
प्रकृति स्थित हुइ पुरूष सदा ही, प्रकृति जन्य गुण भोगे भाई ।
गुण को संग जीव दुखदायी, सद अरु असत योनि मंहि जाई ॥४॥

दो० देह स्थित यह आत्मा, फिर भी परम कहात ।
साक्षी, भर्ता, भोक्ता, अनुमन्ता करतार ॥८॥
पुनः महेश्वर भी यही, परम आत्मा याहि ।
जानि सोइ सुख ऊपजै, कष्ट कबहुं नहि आहि ॥९॥

चौ० पुरूष और प्रकृति गुण धारी, तत्व रूप नर जानन हारी ।
सब प्रकार वर्ते जग मांही, पुनर्जन्म वाको फिर नांही ।
कोउ आत्मा से-आत्मा (परमात्मा) जाने, कोउ करि ध्यान ताहि पहचाने ।
कोउ निज ज्ञान शक्ति से देखे, योगी योग शक्ति के लेखे ।
कर्म योग से देखे अन्या, पुनि अनजान, अन्य सुनि धन्या ।
सुनि सुनि जो परमेश्वर ध्यावे, मृत्यु रूप जग सो तरि जावे ।
जो कछु स्थावर जंगम् वस्तु, पुरूष, प्रकृति संयोग समस्तु ।
भरतर्षभ क्षय होवन हारे, भूत चराचर इह जग सारे ।
परमेश्वर अविनाशी सबमे, सम भावहिं व्यापे रगरग मे ।
जो देखे सब मे परमेश्वर, देखे वही सत्य मे "शंकर" ॥५॥

दो० ईश्वर को समभाव में, देखे सब में जोय ।
परमगति पावे वही, कबहुं नष्ट नहि होय ।
करम सभी जो देखता, प्रकृति कृत सब भांति ।
आत्म (आत्मा) अकर्ता देखता, वह देखे भल भांति ॥११॥

चौ० पृथक-पृथक भूतन के भावा, पुनि भूतन विस्तार प्रभावा ।
एक ब्रह्म संकल्प आधीना, जब जाने कोउ पुरुष प्रवीना ।
तब वह ब्रह्म भाव को पावे, बार बार जग में नहि आवे ।
हे कौन्तेय ब्रह्म अविनाशी, है अनादि निर्गुण सुख राशी ।
देह स्थित हुइ कर्ता नांही, नांहि लिपायमान है भाई ।
यथा व्योम सर्वत्र व्याप्त है, सूक्ष्म होय वह नहीं लिप्त है ।
आत्मा देह स्थित एहि भांती, लिप्त नांहि होवे सुनु सांची ।
यह समस्त ब्रह्माण्ड धनंजय, एक सूर्य से जिमि प्रकाशमय ।
तिमि यह एक आत्मा ऐसी, पूर्ण क्षेत्र प्रकाश करेसी ॥६॥

दो० भेद क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का, भूत प्रकृति उद्धार ।
ज्ञान चक्षु जाको मिले, वो ही जानन हार ॥१२॥
जो जाने सोई लभै, परम ब्रह्म को गेह ।
पार्थ ज्ञान चक्षु विना, करे देह सो नेह ॥१३॥

अध्याय तेरह समाप्त

अध्याय चौदह प्रारम्भ

दो० ज्ञानन में भी परम जो, उत्तम ज्ञान कहात ।
कुन्तीसुत सों हरि कहे, पुनि मैं, तुम्हें बतात ॥१॥
जानि जाहि मुनिजन सकल, परमसिद्धि जग पात ।
प्रलय काल नहि व्यथित है, पुनर्जन्म नहि पात ॥२॥

चौ० प्रकृति मोरि योनी सुनु भारत, चेतन रूप बीज करूं थापित ।
जड़ चेतन संयोगहि कारण, सर्व भूत उत्पति अरिमारण ।
हे अर्जुन सब योनिन मांही, संभवन्ति जन जेते यांही ।
ब्रह्म महत (प्रकृति) सबकी है योनी, मै हूं बीज, मोर बस "होनी"।
त्रिगुण मयी प्रकृति सुनु भारत, सत, रज, तम तेहि शास्त्र उचारत।
जीवात्मा अविनाशी को ये, बांधे देह संग कुरुकन्ते ।
है निष्पाप, सत्व द्युतधारी, निर्विकार, निर्मल, सुखधारी ।
ज्ञानासंग ज्ञान अभिमानी, एहि कारण बन्धे जग जानी ।
राग रूप रजगुण कुन्तीसुत, जन्मत सदा सदा तृष्णायुत ।
कर्म संग बांधे वह देही, कर्मफलहिं आसक्ति रहही ।
सब देहिन को मोहन हारा, तम उपजै अज्ञान अधारा ।
सोइ प्रमाद निद्रा उपजावे, करि आलस्य जीव बन्धवावे ॥१॥

दो० सत् गुण प्रेरे सुखन में, रजगुण कर्म करात ।
तम ढकि देवे ज्ञान को, सदा प्रमाद सुहात ॥३॥

चौ० जेहि क्षण रजगुण तम ढकि देवे, हे भारत सतगुण बढ़ि लेवे ।
सतगुण को रजगुण वशि लेवे, बढ़े तमोगुण "शंकर" कहवे ।
एहि विधि तम सत को जब ढांपे, बढ़ि जावे रजगुण सुनु आपे ।
अन्तःकरण इन्द्रिय तन मांही, जेहिक्षण चेतनता हुइ जाही ।
उपजत ज्ञान, देह जेहि काला, जानो बढ़त सत्य तेहि काला ।

जब जब बढे रजो गुण अर्जुन, लोभ प्रवृति उपजै नर के मन ।
कर्म मांहि मन चंचल होवे, बढ़ै लालसा धीरज खोवे ।
होत तमोगुण की अधिकाई, बढ़ै प्रमाद, प्रकाश न भाई ।
सदा मोहवश आलस्य धारे, पात अधोगति रह संसारे ॥२॥

दो० सतगुण वृद्धि मांहि, नर, देह त्याग करि जात ।
निर्मल लोकहि लभै, वह, उत्तम कर्ता पात ॥४॥
रज गुण वृद्धि मांहि, यदि, त्यागे देह पुमान ।
कर्मसक्ति कारणै, मनुज देह पुनि आन ॥५॥

चौ० तमगुण बृद्धि मांहि तन त्यागे, मूढ़ योनि पुनि जन्महिं आगे ।
सात्विक कर्म किये सुख आवे, ज्ञान, वैराग्य, अमल फल पावे ।
राजसकर्म फलहिं दुख होवे, तमस कर्म अज्ञानहि बोवे ।
सत्गुण से उपजै मन ज्ञाना, रज गुण लोभ करावत नाना ।
तमस प्रमाद मोह उपजावे, ज्ञान नहीं अज्ञान बढ़ावे ।
सतगुण स्थित उच्च गति पावे, रज गुण स्थित मध्य पुनि आवे ।
तमगुण स्थित वृति हो जाकी, तामस पुरूष अधोगति वांकी ॥३॥

दो० जब दृष्टा यह जानले, गुण ही है करतार ।
गुण ही गुण में वर्तते, मैं ही गुण आधार ॥६॥
सर्व गुणन सो परम मोहि, जाने जब यह जीव ।
मोर स्वरूपहिं प्राप्त है, कह निज मुख राजीव ॥७॥

चौ० देह उत्पत्ति देही यह जाने, तीनो गुण से निर्मित माने ।
जब लंघे वह गुणमय माया, जानहुं तेहि अमृत पद पाया ।
जरा, जन्म, मृत्यु दुख छूटै, परमानन्द पात सुख लूटै ।
अर्जुन कहे कहो यदुनाथा, तीनो गुण अतीत कर बाता ।
का लक्षण अस नर को होई, करत आचरण कस विधि सोई ।

तीनों गुण अतीत हुइ कैसे, कौन उपाय किये हुइ ऐसे ।
सतगुण, रजगुण और तमोगुण, होत प्रकाश, प्रवृति मोहितमन ।
होय प्रवृति याकी, नहि द्वेषे, निवृति भी पाण्डव नंहि कांक्षे ॥४॥

दो० रहे सदा सम भाव में, उदासीन वत होइ ।
गुण बिचलित नहिं करि सकै, नर पुंगव कोउ कोई ॥८॥
गुण ही गुण में वर्तते, रहे स्थित यह जानि ।
या को मन नांही डुलै, कथन हमार प्रमानि ॥९॥

चौ० आतम भाव स्थित नित रहही, सुख दुःख सम मानि चरैही ।
मृतिका स्वर्ण समानहि भावा, प्रिय अप्रिय समतुल्य रखावा ।
निन्दा स्तुति समान है जाके, सदा चित्त में धीरज राखे ।
जाके तुल्य मान अपमाना, मित्र शत्रु दोउ एक समाना ।
सर्वारम्भ त्याग मन राखे, ए नर गुणातीत श्रुति भाखे ।
अव्यभिचारिणी, भक्ति योगी, भजे निरंतर मुझको जो भी ।
वो एहि तीन गुणन को लंघे, सदा मगन रहे ब्रह्महि संगे ॥५॥

दो० मैं अविनाशी ब्रह्महूं, मैं ही नित्य अखण्ड ।
मैं अमृत, सुख धर्म मैं, मैं आश्रय ब्रह्माण्ड ॥१०॥

अध्याय चौदह समाप्त

अध्याय पंद्रह प्रारम्भ

दो० "शंकर" हरि के चरण में, नित्य नवावे माथ ।
भारत को भगवान पुनि, जग को रहस्य बतात ॥१॥

चौ० उर्ध्वमूल जग कर्ता ऊपर, शाखा रूप अधः ब्रह्म फिर ।
यह अश्वत्थ रूप जग जानो, अविनाशी स्वरूप पहिचानो ।
वेद जासु के पर्ण सुहाने, तत्व रूप जो मानव जाने ।
वो ही वेद वित् कहलावे, जानि ताहि भव सौं तरि जावे ।
है अश्वत्थ रूप जग पादप, अधः उर्ध्व फैली शाखा सब ।
ये गुणमय शाखाएँ ऐसी, विषयासक्त, विषम कोपल सी ।
अधः लोक में विषय मूल ही, भटकावे यह बृहत् भूल ही ।
हे भारत नर लोकहिं मांही, कर्म संग ये विषय बंधाही ॥१॥

दो० इतने से इस जगत में, समझ न आवे ज्ञान ।
आदि अंत याको नहीं, ना स्थिति को मान ॥२॥
विषय रूप दृढ़ मूल को, है अश्वत्थ कठोर ।
कटे शस्त्र वैराग्य सौं, है उपाय नहीं ओर ॥३॥

चौ० हो वैराग्यवान जो कोई, काटि लेत सब बंधन सोई ।
परमेश्वर को पुनि सोइ खोजत, जा को पाइ नांहि पुनि लौटत ।
जाके कारण जग विस्तारै, करहुं नमन जग–पालन हारे ।
"शंकर" अशरण शरण तुम्हारे, बंधन काटहुं कृष्णमुरारे ।
जाको मान मोह क्षत होई, संग दोष पुनि विजयी सोई ।
नित्य रहत परमेश्वर ध्यानम्, विगत कामना द्वन्द्व नशानम् ।

सु:ख–दु:ख से मुक्त ज्ञान जन, पात परम पद "शंकर" अर्जुन ।
सोई परम पद स्वयं प्रकाशी, रवि, शशि, पावक, अर्थ न आंखी।
पाइ जासु पुनि जग नहि आवे, परम धाम सोइ मम कहलावे ॥२॥

दो० जीवात्मा इस देह में, अंश सनातन मोर ।
प्रकृति स्थित मन इंद्रियों, खींचत वह निज ओर ॥४॥

चौ० गन्ध स्थान गन्धरत रहही, पवन गंध हरि आगे वहही ।
एहि विधि जीव, इन्द्रिय मन सहितम् त्यागि एक तन दूसर ग्रहीतम्।
तन धरि पुनि यह जीव लुभावत, श्रोत, चक्षु रसना पुनि पावत ।
पात स्पर्श, घाण, मन साथा, रहत जीव विषयन मद माता ।
देह त्यागि जब आत्मा जावे, देह स्थित हुइ कार्य करावे ।
भोगे विषय सर्व तन रहही, धारि तीनि गुण रमण करेही ।
मूढ़ जना यह जानत नांही, ज्ञानचक्षु विद् सब समुझाही ॥३॥

दो० हृदय स्थित यह आत्मा, देखे योगी लोग ।
सदा यत्न रत वे रहे, तब पावे संजोग ॥५॥

सोरठा: जाको मन नहि शुद्ध, यत्न किए भी ना लखे ।
आत्मा चेतन, बुद्ध, अज्ञानी जाने नही ॥१॥

चौ० तेज धारि रवि जगत् प्रकाशै, तेज सोइ शशि, अग्नि उजासै ।
सो सब तेज जानि मम अर्जुन, सोइ तेज भुइ धारू भूतगतन ।
रसमय होइ शशांक प्रकाशूं, सर्व औषधि रक्षहूं जासूं ।
प्राणीजन तन आश्रित होई, है वैश्वानर जानहुं सोई ।
प्राण अपान युक्त चहुँ भाँती, अन्न पचावहुं मै दिन–राती ।

सर्व भूत हृद रहूं सदा मै, मो सो ज्ञान स्मृति बुद्धि है ।
सब संशय मै मेटनवारा, वेद ज्ञान सो जानन हारा ।
मै वेदान्त जनक अरि सूदन, वेदवित् मै हीं हे अर्जुन ॥४॥

सोरठा· पुरूष प्रकार है दोय, क्षर अक्षर इह जगत में ।
सर्वभूत क्षय होय, अविनाशी कूटस्थ है ॥२॥

दो० उत्तम पुरूष है अन्य कोउ, जाने ज्ञानी होय ।
तीनहि लोक प्रवेश करि, धारे पोषे सोय ॥६॥
या को कह परमात्मा, कोउ अव्यय, कोउ ईश ।
"शंकर" तो मति मन्द अति, केवल नावे शीश ॥७॥

चौ० नाशवान सो, मै हूं न्यारा अक्षर जीव सो उत्तम प्यारा ।
एहि कारण लोके अरु वेदे, पुरूषोत्तम नामहिं मयि कहते ।

हे भारत जो एहि विधि जाने, ज्ञानीजन पुरूषोत्तम माने ।
वह सर्वज्ञ पुरूष सब भांती, मोहि भजे मम शरण सुहाती ।
हे निष्पाप पार्थ यह शास्त्रम्, जो अति गूढ कहा तोहि भक्तम् ।
जानि सोइ ज्ञानी कृतकृत्य, वाणी मम अर्जुन यह सत्य ॥५॥

अध्याय प्रन्द्रह समाप्त

अध्याय सोलह प्रारम्भ

दो० कह केशव सुनु पाण्डुसुत, दोय सम्पदा जान ।
दैवी नामहि एक है, अन्य आसुरी मान ॥१॥
जो दैवी धरि सम्पदा, लक्षण ताहि बखानु ।
फिर बतलावहुँ आसुरी, सुनहुं तात धरि ध्यानु ॥२॥

चौ० दैवी सम्पति धारण वारा, सदा अभय अरु दान पियारा ।
अन्तःकरण शुद्ध रहे वाको, ज्ञान योग मे स्थिति जाको ।
करै यज्ञ, दम तप को धारै, ज्ञान पिपासु पठन रूचि वारै ।
तन, इन्द्रिय मन सरल सदा ही, रहे अहिंसक क्रोध नसाई ।
त्यागी सदा सत्य को धारे, पर निन्दा मन नांहि विचारे ।
शान्ति, दया मृदुलता भूषण, त्यागे लोभ चपलता दूषण ।
तेज, क्षमा अरु धैर्य विभूषित, द्रोह मान से नांहि प्रदूषित ।
सदा शुद्ध, अभिमान अभावा, दैवी सम्पति लछन बतावा ॥१॥

दो० आसुरि धन धारण करै, लक्षण सुनहूं कुमार ।
दर्प, दम्भ, अभिमान को, रहे न पारावार ॥३॥
सदा क्रोध धारण करै, बोले वचन कठोर ।
रहे मूढ़ता में विकल, कुन्तीसुत चहुँओर ॥४॥

चौ० दैवी सम्पति मुक्तिदाता, बन्धन कारी आसुरी भ्राता ।
शोक न करहुं पाण्डुसुत प्यारा, तूं दैवी धन धारण वारा ।
पार्थ लोक मे भूत स्वभावा, दो प्रकार गुणिजन बतलावा ।
एक देव, आसुरी है अन्या, दैव स्वभाव कहा, सुनि धन्या ।
सुनहुं स्वभाव आसुरी मो सो, करि विस्तार कहूं मै तो सो ।

प्रवृति निवृत्ति आचरण न जाने, सत्य, शौच को वो नहि माने ।
वा के मत जग आश्रय हीना, बिनु परमेश्वर झूठा चीन्हा ।
नर नारी संगम जग उपजे, असत् अन्य सब कामहिं जै जै ॥२॥

दो० ऐसा मत अवलम्ब करि, नष्ट आत्म निर्बुद्धि ।
सदा रहत अपकार रत, क्रूरप कर्म, नित क्रुद्ध ॥५॥
जग में हानि सदा करै, दम्य मान मदमत ।
पूर्ण न होवे जो कभी, सदा कामना रत्त ॥६॥

चौ० मोह वशी अविवेकहिं धारे, भ्रष्ट आवरण लागै प्यारे ।
आजीवन अनन्त चिन्ताए, घेरे रहे उन्हें चहुं पाये ।
काम, भोग नित तत्पर रहही, है आनन्द यही, यह कहही ।
आशापाश शतै आबद्धा, कामक्रोध मे सब विधि सिद्धा ।
काम, भोग हित रचै प्रपंचै, करि अन्याय अर्थ नित संचै ।
आज प्राप्त यह मै कर लीन्हा, मैने यह धन संग्रह कीना ।
फिर मै और अधिक कर लूंगा, और मनोरथ सिद्ध करूंगा ।
मैने वह शत्रुवध कीन्हा, हंतहु और पुनि शत्रु प्रवीना ॥३॥

दो० मैं ईश्वर, मै भोक्ता, मैं हूँ सिद्ध सुजान ।
मैं ही जग में हूं सुखी, मैं ही हूँ बलवान ॥७॥
बड़ कुटुम्ब, मैं बड़ धनी, करहुं यज्ञ, करूं दान ।
मो सम दूसर कौन है, पावहु हर्ष महान् ॥८॥

चौ० एहि प्रकार अज्ञान विमोहित, बहु विधि चित्त भ्रमित अरु मोहित ।
काम भोग आसक्त नराधम, मोह-जाल मे फंसे मृगासम ।
क्रोध, लोभ को धारण करहि है, अशुचि नरक मांही ए परि है ।
वे अपने को उत्तम माने, धन अरू मान घमण्ड सुहाने ।
नाम मात्र के यज्ञ करावे, विधि विहीन पाखंड रचावे ।
अहंकार बल क्रोध परायण, काम, दर्प परनिन्दा अवगुण ।

धारि सदा मो सो नित द्वेषे, मै सब मे समझाऊँ कैसे ?
ऐसे अधम पुरूष संसारे, द्वेषी, क्रूर कर्म आचारे ।
बारम्वार जगत् में आवे, असुर योनि में जन्महिं पावे ।
जन्मजन्म गहि आसुरि योनी, पात नीच गति टरै न होनी ।।४।।

दो० कहे कृष्ण सुनु कुन्तिसुत, काम, क्रोध अरु लोभ ।
नरक द्वार या को कहे, है आत्मा के रोग ।।९।।
ले जावे इस जीव को, अधोगती के द्वार ।
जो त्यागे या को कोऊ, वो पावे उद्धार ।।१०।।

चौ० अन्धकार के तीनहुं द्वारे, जो नर मुक्त हुए सुनु प्यारे ।
निज कल्याण हेतु रत होई, पात परम गति अर्जुन सोई ।
शास्त्र कही विधि त्यागे जो नर, स्वेच्छा से विचरण करे भू पर ।
वह न सिद्धि, न सुख को पावे, परम न पात, न मो ढिग आवे ।
तोर अकार्य, कार्य का होई, शास्त्र प्रमाण व्यवस्था सोई ।
ऐसो समुझि शास्त्र विधि जो ही, करो कर्म जो योग्य है सोई ।

अध्याय सोलह समाप्त

अध्याय सत्रह प्रारम्भ

दो० शास्त्र विधि को त्याग करि, श्रद्धा युक्त हुइ श्याम ।
देवादिक नर पूजते, तानिष्ठा का नाम ॥१॥
सात्विक, तामस, राजसी, इनमें से वह कौन ।
अर्जुन पूछै श्याम सों, समझावो तजि मौन ॥२॥

चौ० कृष्ण कहे सुनु मो सो भाई, वह श्रद्धा स्वभाव उपजाई ।
तीनहि भांति हुवै जस गायी, सात्विक, राजस, तामसताई ।
अन्तः करण हुवै जस जा को, वो स्वरूप हो वे श्रद्धा को ।
श्रद्धामय अस पुरूष कहावे, जैसी श्रद्धा तस होई जावे ।
सात्विक पुरूष यजन्ते देवा, राक्षस यक्ष राजसी सेवा ।
प्रेत भूत को तामस पूजे, शास्त्र विधि बिन तपते दूजै ।
ए तपसी, दम्भी, अहंकारी, बल अभिमानी, कामाचारी ।
देहि और भूतगण सारे, अन्तःकरण वास करूं प्यारे ।
मै ऐसो सबको हितकारी, वे दम्भी मो को दुःख कारी ॥१॥

दो० ये अज्ञानी प्राणीजन, ज्ञान आसुरी ताहि ।
सदा सतावत अन्य को, अधोलोक पुनि जाहि ॥३॥
भोजन भी सबको सखे, प्रिय लागे त्रय भांति ।
यज्ञ, दान, तप एहि विधि, तीनहीं भांति कहाति ॥४॥

चौ० प्रथम सुनहुं आहार प्रकारा, जो लागे सात्विक नर प्यारा ।
जो भोजन सुख प्रीति बढ़ावे, आयु, बुद्धि, बल वृद्धि करावे ।
दे आरोग्य, होत रस युक्तः, स्थिर प्रभाव प्रियहिं मन स्निग्धः ।
कटु, खट्टे, अति गरम, लवण मय, तीखे, रूखे, गात दाहदय।

दुःख, शोक अरु रोग बढ़ावे, ए भोजन राजस नर भावे ।

अर्धपक्व, रसहीन, अहारा, शुचि विहीन दुर्गन्धीवारा ।
बासी और उच्छिष्ट भोजनम्, प्रिय लागे तामस को हरदम ॥२॥

दो० यज्ञ करे विधिशास्त्र सों, करे जानि कर्त्तव्य ।
फल की इच्छा ना करे, सात्विक है यह हव्य ॥५॥
भरत श्रेस्ठ ! दम्भाचरण, हेतु यज्ञ जो कीन्ह ।
फलइच्छा उद्देश्य तंह, राजस नामहिं चीन्ह ॥६॥

चौ० विधिविहीन अरु मंत्रविहीना, अन्नदान बिनु दक्षिणा दीना ।
श्रद्धा रहित जो यज्ञ करावै, तामस यज्ञ नाम कहलावे ।
सुनहु तात अब तपहि प्रकारा, देह, वाणि, मन न्यारा न्यारा ।
देव, गुरू, द्विज ज्ञानीजन को, श्रृद्धायुक्त याके पूजन को ।
करि निज देह लाभ ले लेवे, रहे पवित्र सरलता सेवे ।
ब्रह्मचर्य धरि हिंसा त्यागे, ए शरीर तप नामहिं भाखे ।
वाणी जो प्रिय अरु हितकारी, सत्य वचन स्वाध्याय आचारी ।
नांहि कबहुँ उद्वेग करावे, या को वाणी तप बतलावे ॥३॥

दो० मन प्रसन्न अरु शान्त रहे, मौन विनिग्रह चित्त ।
अंतःकरण पवित्र हो मन का तप यह मित ॥६॥

सो० परम श्रद्धया कोय, फल की चाह करै नही ।
सात्विक नामहिं होय, तप तीनो विधि जो कहयो ॥१॥

चौ० तपै मान सत्कार प्रयोजन, दम्भयुक्त इच्छै निज पूजन ।
अध्रुव क्षणिक जासु फल होई, तप राजस कहलवाहि सोई ।
कष्ट स्वयं को हठ करि देई, सदा मूढ़मति जा को रहहि ।
तपै सदा अपकारहि हेतु, है तामसतप यह कपिकेतु ।
सुनहु दानमहिमा पुनि भारत, करि कर्त्तव्य देत बिनु स्वारथ ।
प्रतिउपकार हेतु तंह नांही, देश काल उरु पात्र दृढ़ाई ।

देत दान वह सात्विक होई, योगी बिन अस करे न कोई ।
प्रतिउपकार प्रयोजन कारण, पुनि फल प्राप्ति हेतु अरिमारण ।
कष्ट उठाइ दान जो देवे, राजस नाम तासु श्रुति कहवे ।

दो० तिरस्कार करि दान दे, देश काल विपरीत ।
देत कुपात्रहि, मान विनु, तामस की यह रीत ॥८॥
'ॐ तत्सत्' यह ब्रह्म को, तीन प्रकारहि नाम ।
आदिकाल तासु सृजित, वेद, यज्ञ, द्विजराम ॥९॥

चौ० ब्रह्मवादी विधान जो कीन्हा, यज्ञ, दान, तप क्रिया प्रवीना ।
होत आरम्भ 'ॐ' कहि सबही, प्राप्त होत सिद्धि नर तबही ।
'तत्' ऐसे कहि फल नहिं चाहे, विविध यज्ञ तप क्रिया करावे ।
दान क्रिया पुनि करत नरोत्तम, मोक्ष हेतु सेवे पुरुषोत्तम ।
'सत्' ऐसे सद्भावहि हेतु, होत प्रयोग सुनहु कपिकेतु ।
साधुभाव अरु उत्तम कर्मम्, 'सत्' शब्द प्रयोग नर धर्मम् ।
यज्ञ, दान, तप स्थिति पांडुसुत, ज्ञानीजन करते वह भी सत् ।
पुरुषोत्तम अर्पित कर कीन्हा, वो सब कर्म नाम 'सत्' दीना ।
यज्ञ, दान, तप तीनहुं भारत, श्रद्धा बिना "असत्" उच्चारत ।
एहि विधि किया कर्म बिनु श्रद्धा, वह भी 'असत्' नाम आबद्धा ।
ए सब 'असत्' कर्म दुखदायी, इहां उहां कोउ लाभ न भाई ।

अध्याय सत्रह समाप्त

अध्याय अठ्ठारह प्रारम्भ

दो० बूझे श्री ऋषिकेश सों, पार्थ जोड़ि दोउ हाथ ।
त्याग और संन्यास को, तत्व भेद कहो नाथ ॥१॥
अर्जुन जब इच्छा करी, बोले श्री भगवान् ।
काम्यकर्म के त्याग को, कवि संन्यास बखान ॥२॥

चौ०. अन्य विचारकुशल अस भाखे, सर्वकर्म फल त्यागहि, त्यागे ।
कोउ मनीषिगण कह समुझाई, कर्म समस्त दोष कर भाई ।
त्यागहुं कर्म समस्त प्रकारा, अन्य कहे कछु और विचारा ।
यज्ञ, दान, तप, कर्म, धर्मनर, त्यागे नही मनुज भूमि पर ।
भरतसतम सुनु मो मत था मे, तीन प्रकार न्याय दुनियाँ मे ।
ए त्यागन के योग्य न भाई, ए करना कर्तव्य बताई ।
यज्ञ, दान, तप कर्महि तीने, बुद्धिमान नर पावन कीन्हें ॥१॥

दो० आसक्ति को त्याग करि, फल इच्छा नहि होय ।
ए सब कर्म, कर्तव्य हैं, समुझि करे सब कोय ॥३॥
निश्चय करि मैंने कहा, यह उत्तम मत मोर ।
नियत कर्म को त्याग तो, उचित नांहि इहं ठोर ॥४॥

चौ० निश्चित कर्म मोहवश त्यागे, तामसत्याग मोर मत लागे ।
कोउ जाने कर्महि दु.ख रूपा, काया क्लेश भयहि, तजि भूपा ।
राजस त्याग कहावहि सो ही, त्याग फलम् वा को नंहि होई ।
करना है कर्तव्य कुन्तिसुत, ऐसो जानि असंग कर्मरत ।
फल को त्यागि करे जो कर्मा, सात्विक कर्म बतावत धर्म ।
अकुशल कर्म द्वेष नहि जाके, कुशल कर्म अनुरक्ति न वा के ।

ऐसो सत्व गुणी मेधावी, संशय रहित पुरूष है त्यागी ।
कर्म त्याग सम्पूर्ण प्रकारा, त्याग न सके पुरूष तन धारा ।
त्याग कर्मफल को जो करि है, त्यागी नाम सोइ नर धरि है ।।२।।

दो० जो नहि त्यागे कर्मफल, वाको फल त्रय भांति ।
इष्ट, अनिष्ट व मिश्रफल, मरणवाद बतलाति ।।५।।
कर्म फलहिं को त्याग दे, त्यागी नाम पुमान ।
वा के कछु फल न हुवै, वो तो ब्रह्म समान ।।६।।

चौ० महाबाहो सब कर्मसिद्धि हित, कारण पाँच सांख्य मे वर्णित ।
सुनहु ताहि भल भाति मो सों, पात्र जानि बतलावो तो सो ।
प्रथम हेतु, आधार बताया, कर्ता, करण हेतु पुनि गाया ।
हेतु चतुर्थ चेष्टा नामा, पंचम् हेतु देव, जितकामा ।
नर, मन, वाणि, देह सो जबही, कर्म करे आरम्भहिं तबही ।
शास्त्रविधि अथवा विपरीता, होवत पांच हेतु या मिता ।
जाकी बुद्धि शुद्ध न होई, वो दुर्मति यथार्थ नहिं जोई ।
वो ये पंच हेतु विसरावत, मैं कर्ता अस भांति बतावत ।
कर्तापन जा मे नहि भावा, यासु बुद्धि नहिं लिप्त बतावा ।
वह सब लोक हते, नहिं हंता, ना वह कर्म बद्ध करुकन्ता ।।३।।

सोरठा: ज्ञाता, ज्ञेयम, ज्ञान, तिनहुं प्रेरक कर्म के ।
समझे सोइ सुजान, अर्जुन सो केशव कहे ।।१।।
कर्ता, कर्णम् कर्म, तिनहुं संग्रह कर्म के ।
यो हि कर्म को मर्म, "शंकर" जाने सो तरे ।।२।।

चौ० कर्ता, कर्म, ज्ञान ये तीनो, सांख्यशास्त्र गुण भेदहि कीन्हों ।
या सब को पुनि त्रय त्रय भेदा, सुनहु यथावत् गावहि वेदा ।
भिन्न–भिन्न भूतन के मांहे, अव्यय खण्डहीन छवि पाई ।
ऐसो ज्ञान सत्व तुम जानो, पाइ जासु नर ब्रह्म समानो ।

ज्ञान को सर्व भूत गण मांही, पृथक पृथक करि भाग जगाई ।
पृथक पृथक करि करि जो जाने, राजस नाम ज्ञान परमाने ।
जो बतलावे काया सर्वम्, जाने नही तत्व अरु धर्मम् ।
बिना युक्ति निज कथन बतावे, तामस नाम ज्ञान कहलावे ॥४॥

दो० नियत कर्म निर्लिप्त हुइ, फलइच्छा बिनु कीन्ह ।
राग, द्वेष विनु करे जो, सात्त्विक कर्महि चीन्ह ॥७॥
वहुत परिश्रम से करे, फल इच्छा अधिकाई ।
अहंकार से युक्त जो, राजस कर्म है भाई ॥८॥

चौ० हिन्सा, हानि, सामर्थ्य न जाने, का परिणाम विचार नहि आने ।
मोहवशी बिनु किये विचारा, करत कर्म तामस है प्यारा ।
जो कर्ता आसक्ति हीना, अहंकार के बचन कहे ना ।
धैर्य और उत्साह समन्वित, सिद्धि—असिद्धि विकारहिं सों रित ।
ए कर्ता सात्त्विक कहलावे आगे राजस भेद बतावे ।
सदा रहे आसक्ति रत जो, अवलम्वे जो हिंसक मत को ।
कर्मो के फल मे रूचि राखे, लोभी अशुद्ध आचरण जा के ।
हर्ष, शोक से रहे लिपाई, ए कर्ता राजस सुनु भाई ।
जाको चित्त न रहे ठिकाने, शिक्षाहीन धमण्ड सुहाने ।
धूर्त, विषादी और आलसी, अन्ये जना जीविका नाशी ।
दीर्घसूत्री लम्बी ताने, ए कर्ता तामस कहि जाने ॥५॥

दो० बुद्धि और धृति दोउ को, तीनतीन गुण भेद ।
पृथक-पृथक सुनु कुन्तिसुत, पूर्व कह्यो श्रुति वेद ॥९॥
कार्य, अकार्य भयाभयं, प्रवृति, निवृति का ज्ञान ।
बन्ध मोक्ष तत्वहिं लखै, बुद्धि सात्विकी जान ॥१०॥

चौ० कार्य अकार्य, धर्म अधर्म को, जानत नही यथार्थ मर्म को ।
बुद्धि वही राजसी होई, या मे संशय करै ना कोई ।

तमसावृत बुद्धि होइ जावै, अधर्म को वह धर्म बतावै।
सर्व अर्थ विपरीतहि माने, सो बुद्धि तामस करी जाने।
अव्यभिचारिणी होत धारणा, योगहिं से आसक्ति मारणा।
मन, इंद्रिय, प्राणहि जो धारे, धृति सोइ सात्विकी उचारै।
फल इच्छा आसक्ति धारी, धर्म, अर्थ कामहि रूचि वारी।
धृति धारि कर्महि रत होई, कहत राजसी सुधिजन सोई।
जासु प्रभाव शोक, भय, दुख हो, निद्रा अरु मद नांहि विमुख हो।
धृति धारि दुर्मति अस कोई, तामस नाम धरावहि सोई ॥६॥

दो० **तीन भांति को सुख हुवै, सुनहु पार्थ धरि ध्यान।**
पावे करि अभ्यास से, होवत दुःख नसान ॥११॥
पूर्व मांहि विष सो लगे, अमृत सम परिणाम।
निज विवेक सों उपजै, सात्विक सुख सोइ जान ॥१२॥

चौ० आतम बुद्धि प्रसाद स्वरूपा, वह सुख सात्विक है कुरुभूपा।
इंद्रिय विषय योग सुखकारी, अमृत सम पहले अरिमारी।
विष सम होत तासु परिणामा, यो सुख होत राजसी नाम।
निद्रा अरु आलस्य जनित जो, पुनि प्रमाद से जो मंडित हो।
जो सुख पूर्व और परिणामे, मोह करे पैदा आत्मा मे।
यो सुख तामस नाम धराई, गुण बिनु या जग मे कोउ नांही।
तीनो गुण प्रकृति उपजाये, भूमि स्वर्ग देवन मे छाये।
या सो मुक्त न कोइ भ्राता, ब्रह्म एक निर्लिप्त कहाता ॥७॥

दो० **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को, पुनि शूद्रन को कर्म।**
जो स्वभाववश ऊपजै, किये विभक्त गुणधर्म ॥१३॥

चौ० शम, दम शौच, क्षमा तप अर्जुन, आस्तिक बुद्धि सरलता तनमन।
ज्ञान और विज्ञानहि जाने, ब्राह्मणकर्म स्वभाविक माने।
शोर्य, तेज धीरज, चतुराई, रणआंगण नहि पीठ दिखाई।
स्वामी भाव दान नित देवे, क्षत्रिय धर्म स्वाभाविक सेवे।

कृषि और गोपालन कर्मा, पुनि वाणिज्य वैश्य कर धर्मा ।
सेवाशूद्र स्वाभाविक कर्मम्, एहि विधि चार वर्ण के धर्मम् ।
निजनिज कर्म मांहि रत जो नर, "शंकर" पात सिद्धि वो भू पर ।
जेहि विधि निज कर्महि रत प्राणी, पात सिद्धि सोइ करूं बखाणी॥८॥

दो० जो स्वाभाविक कर्म से, पूजै परम महेश ।
परम सिद्धि वह नर लभै, परमानन्द हमेश ॥१४॥

चौ० सर्वभूत जा सों उपजाये, जा सो जगत् व्याप्त चहु पाये ।
स्वाभाविक निज कर्महि कीन्हे, पूजन ताहि स्वतः करि लीन्हे ।
अन्य धर्म अति श्रेष्ठिहिं होई, पर निज धर्म समान न कोई ।
जो स्वभाव से नियत कर्म है, वो अपनो अति श्रेष्ठ धर्म है ।
ताहि किये कोउ पाप न होई, अपनो धर्म तजे नहिं कोई ।
जो स्वाभाविक कर्म है अपना, हो सदोष तो भी है करना ।
जेहि विधि अग्नि धूम सो दूषित, सबहिं कर्म सोइ भांति प्रदूषित ।
ऐहि विधि अपनो धर्म न छोड़े, ए नर वर भूतल पर थोड़े ॥९॥

दो० बुद्धि नही आसक्ति में, विगत स्पृहा चित्त ।
अन्तःकरण विजय कियो, परम सिद्धि भयो मित्र ॥१५॥
एहि प्रकार संन्यास सों, सिद्धि पात "निस्काम" ।
कुन्तीसुत सो हरि कहे, पावे वो मम धाम ॥१६॥

चौ० सिद्धि पाइ, ब्रह्म पद पावे, बारबार भूलोक न आवे ।
निष्ठा–परा ज्ञान सुनु मो सो, करि संक्षेप कहूं मै तो सो ।
बुद्धि विशुद्ध जाकि हुइ जावे, मित आहार एकान्त सुहावे ।
सात्विक होत धारणा जाकी, अन्तःकरण सदा वश राखी ।
शब्दादिक सब विषयन त्यागी, राग, द्वेष तजि दृढ़ वैरागी ।
मन, वाणी, तन निज वश जाके, ध्यानयोग में रत मन वाके ।
ऐसो रहे निरन्तर जो ही, परानिष्ठ भल भांति सोई ।

पुनि बल, दर्प, काम अरु क्रोधा, अहंकार ममता सब छोड़ा ।
सब विधि शांत होई जो रहही, ब्रह्म भूत हित योग्य है वह ही ।।१०।।

दो० ब्रह्मभूत हुइ वह पुरुष, सदा प्रसन्न रहात ।
शोक, कामना नहीं करै, पराभक्ति मम पात ।।१७।।
सब भूतन समभाव सों, देखे वह मम भक्त ।
जाने मोहे तत्व सों, परा भक्ति आसक्त ।।१८।।

चौ० मै जो हूँ, जस मोर प्रभावा, भक्ति प्रभाव जानि सब पावा ।
जानि तत्व सो मो ढिग आवे, वो मुझमे आश्रय फिर पावे ।
कर्म समस्त सदा रत रहही, पर मेरो आश्रय जो गहहीं ।
मोरी कृपा कष्ट नहि आवे, शाश्वत, अव्यय पद को पावे ।
सर्व कर्म मयि अर्पण कीजै, मन सो मोर परायण हुइ जै ।
बुद्धियोग को आश्रय लीजै, सदा चित्त मयि आश्रित कीजे ।
मोरी कृपा तरहि सब संकट, कह्यो मोर करि लेहु परम भट ।
अहंकार वश मोरी बानी, नांहि सुनै तो होवे हानी ।।११।।

दो० अहंकार अवलम्ब करि, होत युद्धरत नांहि ।
मिथ्या निश्चय तोर यह, क्षत्रिय धर्म नशाहि ।।१९।।
जो स्वभावगत कर्म है, प्रकृति करहिं तोहि बाध्य ।
मोहवशी चाहे नहीं, प्रकृति विरूद्ध न साध्य ।।२०।।

चौ० हे कौन्तेय कर्म आबद्धा, परवश करहि स्वभावहि बद्धा ।
यन्त्र आरूढ़ यंत्र जस फेरे, यंत्र फिरे सोइ विधि तस प्रेरे ।
सर्व भूत हृद ईश्वर राजे, सोइ भ्रमावत माया काजे ।
तासु शरण भारत गहि लीजे, अन्य भाव मन सो तजि दीजे ।
तासु कृपा मन शान्ति दृढ़ावे, शाश्वत परम् धाम नर पावे ।
यह अति गूढ़ गूढ़तर ज्ञानम्, मैने कहा तोर हित ध्यानम् ।
अब सब विधि विचार करि लीजै, जस विधि चाहे सोइ विधि कीजै।

सर्व गुह्यतम वचन परम मम, पुनः कहूं तोरे हित हेतुम ।
तूँ अतिशय प्रिय मोहे लागे, सुनहु वचन मोरे, भय भागे ।।२२।।

दो० मेरे में मन स्थिर कर, भक्त मोर हुइ जाउ ।
मेरो ही पूजन करो, नमहुं मोहि सद्भाउ ।।२१।।
सत्य प्रतिज्ञा सों कहूँ, तूं पावेगा मोहि ।
तूं मेरो अति प्रिय सखा, मैं समझाऊं तोहि ।।२२।।

चौ० अन्य धर्म सब त्यागहुं अर्जुन, गहो शरण मोरी करि थिर मन ।
मैं तोरे सब पाप छुड़ाऊं, शोक न करो सत्य बतलाऊँ ।
यह जो ज्ञान तोहि बतलावा, तोरे लाभ हेतु मैं गावा ।
कबहुं न कहो भक्त जो नांही, कबहुं न कहो सुनन नहिं चाहीं ।
कबहु न कहो तपस्याहीना, निन्दहि मोहि तासु नही कहना ।
परम भक्ति जो मुझमे राखे, परम गुह्य गीता पुनि भाखे ।
भक्त मोर को याहि सुनावे, निश्चय मोरे ही ढिग आवे ।
ऐसी नर अतिशय प्रिय मोही, ना तासु बढ़कर कोइ होई ।।१३।।

दो० गीता को संदेश यह, देवे पात्रहि जान ।
ता नर सम कोउ प्रिय नहीं, होवहि ना भुइ मान ।।२३।।
दोनों के सम्वाद को, पढ़े, बढ़ावे ज्ञान ।
ज्ञानयज्ञ पूजित होऊं, यो मत मोर प्रमान ।।२४।।

चौ० श्रद्धायुक्त हुइ जो कोइ सुनही, दोष दृष्टि मन मे ना गुनही ।
पाप कर्म से मुक्ति पावे, उत्तम लोक वास मिलि जावे ।
मैंने जो कछु कहा धनजय, क्या तूं सुना होइ करि तन्मय ।
नष्ट हुआ अज्ञान कि नाही, मोह जनित मति अति दुख दायी ।
कह अर्जुन हरि कृपा तुम्हारी, मोह नष्ट भयो मोर मुरारी ।
स्मृति मिली विगत संदेहा, अब मै स्थित हुआ हे देवा ।

तोर वचन पालन अब करहूं, तोर सीख अन्त:मन धरहूं ।
संजय कह एहि भांति भुवाला, कृष्ण पार्थ सम्वाद निराला ।
सुनि रोमांच मोहि हुइ आवा, व्यासप्रसाद दृष्टि मै पावा ।
परम गुह्य योग हे राजन, सुना स्वयं योगेश्वर मुखसन ।
यह अद्भुत सम्वाद याद कर, होत हर्ष पुनिपुनि हे नरवर ॥२४॥

दो० हरि के अद्भुत रूप को, पुनिपुनि करिकरि याद ।
होत अधिक विस्मय मोहे, हर्षित, पुल्कित गात ॥२५॥
जहँ योगेश्वर कृष्ण है, और धनुर्धर पार्थ ।
विजय, विभूती, नीति, श्री, तंह मत मोर यथार्थ ॥२६॥

अध्याय अठ्ठारह समाप्त

॥ जय श्री कृष्णा ॥